वर्ष २०; अंक १-२ (मार्च २०२० से फरवरी २०२१)।। धर्मो रक्षति रक्षितः।। ISSN 2277 - 4882

सनातन संस्कृति एवं प्राच्य ज्ञान विज्ञान का अजस्त्र प्रवाह

वेदाङ्ग-वीथी

(अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका)

U.G.C. Approved Journal [Journal No. 62495]

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु।।

भवेद्विचारः प्रचुरः प्रचारः, धर्मस्य सत्यस्य सनातनस्य।
समीहितार्थस्य फलाप्तिहेतौ, वेदाङ्गवीथी जयतीह नित्यम्।।

वेदस्य वेदाङ्गविभूषितस्य, ज्ञानस्य भक्तेरथ कर्मणश्च।
संज्ञप्तिरेषा विबुधैः सभाज्या, वेदाङ्गवीथी जयतीह नित्यम्।।

नूत्नैश्च प्रत्नैश्च विचारसारैः, सत्यार्थसंकल्पजुषां समेषाम्।
वेदाङ्गसंस्थान-विबोधनार्थम्, वेदाङ्गवीथी जयतीह नित्यम्।।

संरक्षक मंडल : **सदाकान्त शुक्ल** (IAS), **स्वामी हरिचैतन्यब्रह्मचारी** (टीकरमाफी)
लालचन्द्र शुक्ल (प्रवक्ता) **अमित द्विवेदी** (ज्योतिर्विद्)

सम्पादक मण्डल

प्रधान सम्पादक - डॉ० बाबूलाल मिश्र

सम्पादक

डॉ० राममिलन मिश्र

सह सम्पादक : डॉ० देवेन्द्र प्रसाद मिश्र, डॉ.रामप्रकाश मिश्र, ब्रह्मानन्द मिश्र

डाक द्वारा पत्रिका मंगाने का पता : सम्पादक

श्री वेदाङ्ग संस्थान

'कमलानिलयम्', कमलानगर, यमुना विहार (तिगनौता), डाडी, प्रयागराज - 211008

कार्यालय - **हरिभजनदास जी का मन्दिर, 63/59, मोरी, दारागंज, प्रयागराज** - 211006

website:- www.shrivedangsansthan.com **email:-shrivedangsansthan@gmail.com**

परामर्शद मंडल

प्रो. कृष्ण बिहारी पाण्डेय (पूर्व अध्यक्ष, उ.प्र.लो.से.आ.) **प्रो. अञ्जनीप्रसाद पाण्डेय** (आचार्यचर-रीवा) **डॉ० हीरालाल पाण्डेय** (पूर्व प्राचार्य) प्रो. शैलकुमारी मिश्र, (पूर्व संकायाध्यक्ष), प्रो. रामकृष्ण पाण्डेय 'परमहंस', (के.सं.वि.वि.) **प्रो० गिरिजाशङ्कर शास्त्री** (बी.एच.यू.) प्रो. रामबहादुर शुक्ल (जम्मू वि.वि.), **डॉ० बृजकिशोर त्रिपाठी** (मिर्जापुर) **प्रो. रूपकिशोर शास्त्री** (उज्जैन) **डॉ. रामबहादुर शुक्ल** (संस्कृत विभागाध्यक्ष, जम्मू वि.वि.) **प्रो. वीरेन्द्र मिश्र** (वि.वि. शिमला) **प्रो. विनोद शास्त्री** (वि.वि. जयपुर) **डॉ. भगवत् शरण शुक्ल** (बी. एच. यू.), डॉ. राजेन्द्र त्रिपाठी 'रसराज' (प्रयागराज), मंजू महानन्दा (शुआट्स)।

विषयानुक्रमणिका

१.	सम्पादकीय		३
२.	संस्कृत साहित्य में काव्य एवं अलङ्कारशास्त्र संक्षिप्त विमर्श	डॉ. दिनेश कुमार मिश्र	५
३.	श्री श्री जीवन्यायतीर्थस्य प्रहसनानाम् अनुशीलम्	अनुप्रिया (शोधच्छात्रा)	१०
४.	डॉ० श्यामसुंदर दुबे के साहित्य में ग्राम्य-समाज का स्वरूप एवं इतिहास	डॉ० अम्बिका प्रसाद	१४
५.	श्री माधवसदाशिवराव गोलवलकर (गुरु जी:-) श्री गुरु जी हिन्दूजीवन दृष्टेर्व्यापकता	सर्वेश शुक्ल	१९
६.	वैशेषिकदर्शनम्	मनीषनारायणमिश्रः	२१
७.	लघुत्रयी ग्रन्थ रघुवंशम् में योगदर्शन की महत्ता	डॉ० वशिष्ठ सिंह कुशवाहा	२८
८.	वेदान्त में अध्यास विचार और शंकराचार्य	रविशंकर	३६
९.	ग्रामीण विकास योजनाओं का एक अध्ययन	राकेश कुमार यादव	३९
१०.	वैदिककालीन भारतीय राजनीतिक दशा	सुनील कुमार दुबे	४२
११.	'संस्कृतलघुनाट्यचलः' में संकलित महिला नाटककारों के नाटकों में वर्णित सौन्दर्य-तत्त्व	पूजा सिंह	४५
१२.	अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप	डॉ० शालिनी सिंह	४९
१३.	महाभारते श्रीकृष्णचरितम्	अमिता चौरसिया	५३
१४.	संस्था के प्रकाशन	-	५६

पत्रिका सदस्यता शुल्क

आजीवन सदस्यता शुल्क रु. 3000.00 *(आजीवन सदस्यता मात्र सात वर्ष के लिए मान्य होगी)*

वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 500.00 **प्रति पत्रिका शुल्क रु. 150=00**

1. *पत्रिका के संबंध में किसी भी विषय का निस्तारण का न्याय क्षेत्र मात्र इलाहाबाद होगा।*
2. *पत्रिका में प्रकाशित होने वाले शोध लेख/ रचनाओं में व्यक्त चिन्तन से संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।*
3. *संपादक मंडल को पत्रिका से सम्बन्धित किसी प्रकार के संशोधन तथा परिवर्तन के लिये पूर्ण अधिकार होगा।*

सम्पादकीय

पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के अन्तर्गत सर्वप्रथम धर्म का ही उल्लेख किया गया है। धर्म मानव जीवन को कहाँ तक किन-किन रूपों में प्रभावित करता है, धर्म का समाश्रयण करना क्यों अपेक्षित है, धर्म का स्वरूप क्या है! धर्मशील जीवन की अनिवार्यता क्यों की गयी है। धर्म रहित जीवन क्यों गर्हित है, इन प्रश्नों का समाधान किन-किन रूपों में किया गया है, यह विचारणीय तथ्य महाभारत धर्म-कर्म के विषय में क्या कहता है यहाँ इन सभी बिन्दुओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

हमारे समाज में कुछ ऐसे भी कुविचार ग्रसित लोग भी हैं जो धर्म-कर्म की बात करते ही ज्वालामुखी बन जाते हैं। वे कहते हैं हम तो मानवतावादी हैं। धर्म-कर्म से क्या मतलब है। उनको ज्ञात नहीं है कि मानवतावाद का मूल स्रोत क्या है ? मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? धर्म की प्रतिष्ठा से ही मानव में मानवता जागृत होती है। अन्यथा मानव, पशु और दानव में क्या अन्तर होगा। इन सभी प्रश्नों का समाधान धर्म ही करता है।

एक स्मरणीय कथानक है- एक बार देवता, दानव और मानव ब्रह्मा जी के दरबार में उपस्थित हुए, उनको देखकर प्रजापति ब्रह्मा ने कहा- आप का स्वागत है। मेरा आशीर्वाद ('द') लेकर जाइये। और तदनुसार आचरण कीजिये। आप लोगों का कल्याण होगा। ब्रह्मा जी ने उसे लक्षणावृत्ति से उपदिष्ट कर दिया, देवताओं के लिये 'द' का अर्थ - 'दम' इन्द्रिय निग्रह (संयमित भोग) दानवों के लिए दया (हिंसा से निवृत्ति) मानव के लिये दान (त्याग वृत्ति)। यह 'द' वृत्तियों को संयमित करने का कल्याणप्रद सूत्र था।

धर्म शास्वत गुण है, इससे रहित होकर रहना, जीवन को नीरस-निष्प्राण करना है। गुण चैतन्यता प्रदान करता है।

इन गुणों में भी सत्व (सात्विक) गुण की प्रधानता है। समाज में नाना प्रकार की रुचि और योग्यता-क्षमता के लोग होते हैं, सभी की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, ये बाते दृश्य हैं। उनकी सुव्यवस्था और प्रगति-अभ्युत्थान के लिए धर्म मूलक वर्णव्यवस्था को कर्मोपदेश द्वारा निर्धारित किया गया है जिससे कि एक-दूसरे का सम्बलपथ निर्बाध हो और सभी का कल्याण हो।

आचार्यों ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है-

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिससे लौकिक (सांसारिक) उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण हो वह धर्म है। धर्म ही लोक-परलोक पथ को प्रकाशित करता है, उसी में लोक परलोक धारण करने की शक्ति है। उस शक्तिमान के आश्रयण में मानव, धर्म शक्ति से सम्पोषित होकर अपना पथ प्रशस्त करता है। सामाजिक सुव्यवस्था और सम्यक् कल्याण सम्पादन के लिये सत्य, दया, दान, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, अहिंसा, परोकार, पवित्राचरण स्वरूप धर्म आवश्यक है, इनके बिना लोक कल्याण असम्भव है। विपरीत दशा में सामाजिक दुर्व्यवस्था-मिथ्याचरण, हिंसा (उत्पात), संग्रह पर अपकार परसत्वापहरण जैसी विनाशकारी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की वृद्धि हो जाती है। यहाँ 'निःश्रेयस' का तात्पर्य आत्यन्तिक कल्याण होता है। विश्व के भोगों का अपक्षय (नाश होना) देखा जाता है। भोग को विकार स्वरूप बताया गया है। भोग लिप्सा, असंतोष का कारण बन जाती है जो दुःख स्वरूप है।

अतः धर्म हमें कर्त्तव्य की शिक्षा देकर अकर्तव्य से विमुख कर कल्याण के पथ पर अग्रसर करता है। आर्य संस्कृति सनातन धर्म से ही अनुप्राणित है।

उक्त विपरीत आचरण से सृष्टि में दुर्व्यवस्था हो जाने से सर्वत्र अशान्ति फैल जाती है, इसी को ध्यान में रखते हुए वेदों में सर्वत्र शान्ति हो ऐसी कामना की गई है यथा - **द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष गुं शान्तिः प्पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। व्वनस्पतयः शान्तिर्व्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्ब्रह्म शान्तिः सर्व्व गुं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।१।।**

द्युलोक शान्त हो, अन्तरिक्ष अर्थात् पृथ्वी के ऊपर का समस्त शून्यस्थल शान्त हो जाय, पृथ्वी में शान्ति बनी रहे, जल शान्त एवं पवित्र हो, औषधियाँ शान्त हों (विकार रहित हों) सभी वनस्पतियाँ शान्त हों, विश्वेदेवा अर्थात् विश्व के रक्षक देवता शान्त हों, ब्रह्म शान्त हों, इस संसार में सब कुछ शान्त हो, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति रहे यह शान्ति कभी भी बाधित न हो।

यतो यतः समीहसे ततो नो ऽअभयङ्कुरु। शन्नः कुरु प्रजाब्भ्योऽभयन्नः पशुब्भ्यः।।२।।

हे परमेश्वर! आप जिस रूप से हमारे कल्याण की चेष्टा करते हैं, उसी रूप से हमें भयरहित कीजिए। हमारे संततियों का कल्याण कीजिये तथा हमारे पशुओं को भी भयमुक्त कीजिए।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्द्रं३ तन्न आसुव।।

सुशान्तिर्भवतु सर्वारिष्टशान्तिर्भवतु।।३।।

हे सविता देवता! आप समस्त विश्व के दुरित अर्थात् विपरीतता या व्यतिक्रम को दूर कीजिए और जो विश्व के लिए कल्याणप्रद हो उसे प्राप्त कराइये।

वेद में उक्त मंत्रों के द्वारा सब कुछ शान्त रहे किसी में कोई विकार न हो, इसकी प्रार्थना की गई है, हमें जो जो प्रभावित करते हैं यदि वह सब शान्त रहें तो स्वाभाविक रूप से हम भी शान्त रहेंगे तथा किसी विकार से ग्रस्त नहीं होंगे, किन्तु इसके विपरीत जब अशान्त वातावरण होगा तो हम भी अशान्त होकर विकारग्रस्त हो जायेंगे।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जब समस्त संसार कोरोना जैसी महामारी की मार झेल रहा हो, उक्त मंत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण परिभाषित होते हैं। वातावरण की अशान्ति का परिमाण ही है जो विश्व में कोरोना जैसे विकार उत्पन्न होकर सबको अशान्त कर देते हैं, हमने पृथ्वी को, जल को, वायु को प्रदूषित किया, उसे विकारग्रस्त बनाया, हमने यज्ञादि न करके द्युलोक तथा अन्तरिक्ष एवं वायु को पवित्र न करके उसे दूषित कर दिया, हमने वनस्पतियों को औषधियों को समाप्त प्राय कर दिया अथवा हमारी रक्षा करने वाले देवताओं का भी तिरष्कार किया, हमने आत्मस्वरूप ब्रह्म को अर्थात् अनाचार के द्वारा मानव हृदय को दुखी करके ब्रह्म को अशान्त कर दिया, हमने सर्वत्र प्रसरित शान्ति को भंग किया, शान्ति को नष्ट करने वाले उपक्रम संतत करते जा रहे हैं, जिसका परिणाम कोरोना महामारी हमारे सम्मुख कालग्रास की भाँति मुख खोले खड़ी है। यदि हम वेदों का अनुसरण करके अपनी दिनचर्या पर अग्रसर हों तो सम्भव है अभी भी कुछ बचा जा सकता है, अन्यथा कोरोना तो एक नमूना है आगे न जाने क्या क्या होगा।

कोरोना कालग्रस्त होकर ही वेदांगवीथी पत्रिका का पिछला अंक भी प्रकाशित न हो सका, सम्प्रति इस अंक में पिछले अंक को भी समाहित करके मुद्रित कराया जा रहा है। परमात्मा से प्रार्थना है कि आगे सबकुछ शान्त हो और हम सबके आचरण भी शान्त रहें, इसी कामना से आप सबको वेदाङ्गवीथी का प्रस्तुत युग्म अंक निवेदित है।

- सम्पादक

❑❑

संस्कृत साहित्य में काव्य एवं अलङ्कारशास्त्र संक्षिप्त विमर्श

डॉ. दिनेश कुमार मिश्र

साहित्य की विभिन्न विधाओं में काव्य एवं अलङ्कार नामक विधा की रचना कवि के आन्तरिक भावों तथा संवेगों के प्रस्फुटित होने और बौद्धिक विकास के परिणाम स्वरूप होती है। काव्य की रचना के लिए हृदयगत भावों का प्रस्फुटित होना, विषयगत सामग्रियों की उपस्थिति भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ परिष्कृत भाषा, विषय को प्रतिपादित करने के लिए कवि की प्रवृत्ति आदि इन सभी तत्वों की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। काव्य रचना का अभ्युदय हजारों वर्षों की बीती हुई अवधि के बाद ही परिकल्पनीय मानी गयी है। ऋषि विश्वामित्र अपने अनुयायियों के सहित शतद्रु और विपाशा के सङ्गम तक पहुँचे थे। नदियों के शुद्ध जन्म का अवलोकन करने के पश्चात् उनके हृदय के भाव उमड़ पड़े और सहसा कविता प्रवाहित होने लगी।

प्र पर्वतानामुशतीं उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।[१]
गावेव शुभ्रे यातरा रिहाणे विपाट छुतुद्रि पयसा जवेते।।

अर्थात् पर्वतों की गोदी से निकली हुयी और समुद्र में समाहित होने की कामना करती हुयी, खुली हुयी, दो घोड़ियों के समान हँसी से खिल-खिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हुयी ये विपाशा और शुतुद्री नदियाँ अपनी जल धारा से वेग के साथ-जा रही है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में उत्तम काव्य के सभी तत्व उपस्थित हैं। इसमें शृङ्गार और वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति है। माधुर्य गुण है तथा उपमा अलङ्कार का चमत्कारिक सौन्दर्य है।

इसी प्रकार गौतम ऋषि ने जब उदय होती हुयी उषा के सुन्दर दृश्य को देखा तो यह उषा सुन्दर वस्त्राभूषण पहने हुए और वक्ष को खोले हुए नर्तकी के समान प्रतीत होती है। यह उषा उसी प्रकार गति करती है जैसे गौएँ अपने गोष्ठ में जाती हैं –

अधिपेशांसि वपते नृ तूरिवापार्णते वक्ष उस्त्रेव वर्जहम्।[२]
ज्योतिर्विश्वस्मै कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।

सुन्दर काव्य की रचना का विकास अतिप्राचीन काल में, ऋग्वैदिक युग में ही हो गया था। इसके प्रमाण प्रायः सम्पूर्ण 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में मिलते हैं।

काव्य साहित्य की देवी के रूप में वाग् देवता की प्रतिष्ठा भी उस युग में हो चुकी थी। ऋषि गण वाणी के द्वारा ही सशक्त, नवीन और विनय प्रद मन्त्रों की रचना किया करते थे।

प्रतत्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहस्त्रं सूनवेभरे।[३]
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः।।

उत्तरकाल में यह वाग् देवता अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा भी अधिक सामर्थ्य से युक्त समझी जाने लगी थी। इस देवता को सभी धनों का अध्यक्ष, उनको प्राप्त कराने वाला तथा यज्ञों में पूजनीय व्यक्तियों की अन्वेषक समझा जाता था। ऋग्वेद के कई मन्त्र अपने अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमभिषस्वाजाते।[४]
तपोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।

इस मन्त्र में आत्मा, परमात्मा, और प्रकृति इन तीनों उपमेयों के लिए दो सयुजा पक्षी एवं पिप्पल, इन तीन उपमानों का कथन किया गया है। इन उपमानों ने उपमेयों का निगरण कर लिया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

निगिर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।[५]
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।।

जबकि रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ ने भी इस अतिशयोक्ति की प्रशंसा की है।

इयं चातिशयोक्तिर्बेदेऽपि दृश्यते, यथा ''द्वासुपर्णा - शीति''

लौकिक संस्कृत साहित्य में काव्य की रचना के प्राचीनतम् रूप ''रामायण'' और ''महाभारत'' हैं। संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्य साहित्य पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है तथा ये इन काव्यों के उपजीव्य काव्य बन गयी थी। उत्तरवर्ती संस्कृत काव्यों के लिए प्राचीन युग की तीन रचनाएँ मुख्य उपजीव्य बन गयी थी। ''रामायण'', ''महाभारत'' और ''बृहत्कथा'' जो कि पैशाची प्राकृत में लिखी गयी थी। इसके संस्कृत रूपान्तर ही वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं।

रामायण को संस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है तथा इसके रचयिता वाल्मिकी को आदि कवि के नाम से जाना जाता है। वाल्मिकी का यह आदि काव्य उत्तरवर्ती कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। दशरूपकार ने नाटककारों को यह सम्मति दी थी कि वे नाट्य की कथा वस्तु के स्रोत को ''रामायण'' और ''बृहत्कथा'' से ग्रहण करें।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।[६]
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां
कथामुचित चाकवचः प्रपञ्चे।।

वाल्मिकी को काव्य लिखने की प्रेरणा किस प्रकार प्राप्त हुयी? इसका भी अपना अद्भुत इतिहास है। वाल्मिकी के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि किसी अद्भुत वीर पराक्रमी, सदाचारी, संयमी, कान्तिमान पुरुष को नायक बनाकर काव्य की रचना की जाए। उन्होंने इस सम्बन्ध में नारद जी से जानना चाहा तो नारद जी ने बताया कि इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरुष तो इक्ष्वांकुवंशी राम ही दृष्टिगोचर होते हैं। नारद जी से सन्तुष्ट वाल्मिकी तमसा नदी पर स्नान करने के लिए गये। वहाँ उन्होंने विहार करते हुए क्रौञ्च पक्षियों के युगल को देखा। उसी समक्ष एक बहेलिए (व्याध) ने नर क्रौञ्च का वधकर दिया। क्रौञ्च को रुधिर से संलिप्त, भूमि पर गिरा देखकर क्रौञ्ची (माहा) विलाप करने लगी। इस भयानक दृश्य को देखकर वाल्मिकी के मुख से अनायास ही यह श्लोक निकल पड़ा –

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

यह श्लोक संस्कृत काव्य की प्रथम रचना थी। इससे पूर्व छन्दोबद्ध रचनाएँ केवल वैदिक संस्कृत में हुआ करती थीं। तमसा नदी से लौटकर भी वाल्मिकी की चेतना उसी शोक से व्याप्त रही और विस्मय से विमुग्ध वे सोचते रहे कि उनके मुख से यह कौन-सी वाणी प्रस्फुटित हुई है।

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी समालोचकों ने यह प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त श्लोक लौकिक संस्कृत का प्रथम छन्दोमय काव्य है। आनन्दवर्धन का कथन है कि काव्य में अभिव्यक्त रसरूप अर्थ ही काव्य की आत्मा है। जैसा कि आदि कवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणित हो गया।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुराः।[७]
क्रौञ्चद्वन्द वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।

स्वयं ''रामायण'' के रचयिता ने इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मा के मुख से इस प्रकार कराई कि वाल्मिकी का यह श्लोक, श्लोक के रूप में परिणत हुआ।

क्षमाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतै महर्षिणः।[८]
सोऽनुव्यवहारणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमगतः।।

समालोचकों ने ''रामायण'' के श्लोकों को काव्य शास्त्र के ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ''रामायण'' का एक श्लोक ध्वनिकार ने अत्यन्त तिरस्कृता वाच्य ध्वनि के रूप में उदाहरण के लिए ''ध्वन्यालोक'' में इस प्रकार है।

रवि संक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृत मण्डलः।[९]
निः श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

रामायण को करुण-रस प्रधान काव्य कहा गया है। आलङ्कारिकों का मत है कि काव्य में एक रस को अङ्गी में तथा अन्य रसों को अङ्ग रूप में निबद्ध करना चाहिए। यद्यपि रामायण में सभी रसों की निष्पत्ति होती है। ध्वन्यालोककार का कथन है कि ''शोकः श्लोकत्वमागतः'' कहते हुए आदि कवि ने ''रामायण'' में करुण रस को निबद्ध किया है तथा सीता के वियोग पर्यन्त प्रबन्ध की रचना करते हुए उन्होंने इसका निर्वाह किया।

रामायणे ही करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः ''शोकः श्लोकत्वमागतः''[१०]

इत्येववादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त वियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

काव्य रचना के प्रारम्भिक युग में ''महाभारत'' में धर्मशास्त्र और इतिहास की प्रधानता होते हुए भी समालोचकों ने इसको काव्य माना। ध्वन्यालोक में महाभारत के अन्तर्गत ''भगवत् गीता'' प्रकरण के निम्न श्लोक को ''आनन्दवर्धन'' ने अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य ध्वनि के वाक्यप्रकाशता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

महाभारत के काव्यत्व के अन्य भी अनेक उदाहरण काव्यशास्त्रियों ने दिया है। विरोधी रसों को अङ्गाङ्गी भाव से प्रस्तुत करने से उनमें दोष नहीं रहता, इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने एक श्लोक को प्रस्तुत किया है।

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।[११]
नाम्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः।।

संस्कृत साहित्य में ''रामायण'', ''महाभारत'', के अन्तर्गत भी काव्य की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। राजशेखर के अनुसार वैयाकरण पाणिनि ने ''जाम्बवतीजय'' नामक काव्य की रचना की थी।

स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्र प्रसादतः।[१२]
आदौ व्याकरणम् काव्यमनु जाम्ववतीजयः।।

संस्कृत साहित्य में काव्य की समालोचना करने तथा इसके गुण-अवगुण की परीक्षा करने वाली विद्या को अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र आदि अनेक नाम दिये हैं। इस नाम करण का हेतु क्या है? तथा ये नाम कैसे प्रचलित हुए? इस विषय को विचार हेतु प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता सभी विद्वत् एवं सुधी जनों हेतु आवश्यक है। काव्य की समालोचना की विधा के लिए सबसे पहले अलङ्कार शास्त्र नाम प्रचलित हुआ तथा अतिप्राचीन काल से बहुत लोकप्रिय रहा। प्राचीन आचार्यों भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थों के नाम अलङ्कार शब्द पर रखे। भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है और उद्भट के ग्रन्थ को अलङ्कार संग्रह कहा जाता है। वामन का ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्र तथा रुद्रट ने अपने ग्रन्थ को काव्यालङ्कार नाम दिया है।

समालोचना के प्रारम्भिक युग में काव्य का प्रमुख सौन्दर्य आधायक तत्व अलङ्कार को माना जाता है। यह युग भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया था। उद्भट, वामन, रुद्रट आदि भी काव्य में अलङ्कारों के महत्व को प्रतिपादित करते रहे। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नामों को अलङ्कारों आदि शब्द के साथ संयुक्त करके रखा था।

''काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।''[१३]

इन सब आचार्यों के अनुसार काव्य का सौन्दर्य आधायक तत्व अलङ्कार ही था। वामन का कथन है कि अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है तथा काव्य में सौन्दर्य ही अलङ्कार है।

''सौन्दर्यमलङ्कारः।।'' [१४]

अलङ्कृति को ही अलङ्कार कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति करण के रूप में होने से (अलङ्क्रियते अनेन) उपमा आदि को अलङ्कार कहा जाता है।

अलङ्वृतिरलङ्कारः। करण व्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु प्रवर्तते।।[१५]

दण्डी भी काव्य के शोभा के आधायक तत्वों को अलङ्कार माना है।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कार प्रचक्षते।।[१६]

समालोचकों का अभिमत है कि काव्य में अलङ्कार यदि सौन्दर्य का आधान नहीं करेगें तो वे भूषण न होकर दोष हो जाएंगे। चारुत्व का अतिशय होना ही सौन्दर्य का आधान है। चारुत्व के अतिशय के न होने पर काव्य में अलङ्कार की उपयोगिता नहीं है। यदि किसी आभूषण के पहने जाने पर वह आभूषण शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाने में समर्थ नहीं है तो जिस प्रकार शरीर के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में भी है।

भोज ने भी काव्य में सौन्दर्य की आनिवार्यता को प्रतिपादित किया है। वे अलङ्कार उसी को मानते हैं जो काव्य में सौन्दर्य का आधान करता है। उनका कहना है ''धूमोऽयमग्नेः'' यह वाक्य कभी भी वाक्य नहीं हो सकता तथा यह कभी भी किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सौन्दर्य का अभाव है। अप्पय दीक्षित का भी यह कहना है कि वाक्य में सादृश्य होने पर भी अलङ्कार तभी होता है जबकि वहाँ किसी प्रकार का सौन्दर्य होता है। ''नोसदृशाः गणयः'' में सादृश्य होने पर भी उपमा अलङ्कार इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि इसमें किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है।

सर्वोऽपि ह्यालङ्कारः कवि समय प्रसिद्धयनुरोधेन ह्रघतया काव्यशोभाकार एवं अलङ्कारतां भजते, अतः ''गोसदृशंः गवय'' इति नोपमा।।[१७]

समालोचना की विधा के लिए एक अन्य नाम साहित्य शास्त्र भी प्रसिद्ध हुआ था। शास्त्रीय रूप से सबसे पहले राजशेखर ने इस विद्या को साहित्यविद्या कहा था।

पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपिविद्यानां निष्यन्दः।।[१८]

काव्य में साहित्य पद का प्रयोग नया नहीं है, वस्तुतः साहित्य पद का प्रयोग केवल काव्य के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय के लिए है।

साहित्यपायोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।।[१९]

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले सुन्दर कवि व्यापार से युक्त रचना में शब्द और अर्थ के सहित होकर स्थित होने पर काव्य होता है। कुन्तक ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की एक सी मनोहारिणी स्थिति को साहित्य कहा है।

साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रतिकाव्यसौ।[२०]

अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः।।

काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य को अनिवार्य समझा गया। आचार्यों ने शास्त्रों को शब्द प्रधान, पुराण-स्मृति आदि को अर्थ प्रधान तथा काव्य को शब्दार्थ प्रधान बताया है। माघ ने कहा है कि उत्तम कवि काव्य की रचना के लिए शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है।

शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।।[२१]

काव्यशास्त्र के विकास का चतुर्थ काल व्याख्यात्मक काल कहा जा सकता है। यह समय मम्मट के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी में विस्तृत रूप से समाहित है। इस युग में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होंने काव्य के सभी तत्वों की विवेचना करते हुए सर्वाङ्गपूर्व ग्रन्थ लिखे थे। अलङ्कारों की व्याख्या करने वाले आचार्यों में रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि शामिल हैं। काव्य शास्त्र के विकास के क्रम में ध्वनि की उद्भावना तथा इसका काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादन एक प्रमुख घटना है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करके काव्य शास्त्र के विकास को एक नवीन पथ पर प्रवर्तित किया था। काव्य शास्त्र में काव्य के साथ शास्त्र पद को संयुक्त करने का आचार्यों का क्या प्रयोजन हो सकता था यह विचारणीय है। सामान्य रूप से शास्त्र पद का अर्थ है – ''शासनात् शास्त्रम् ।'' शासन करने वाला, उपदेश देने वाला होने से यह शास्त्र होता है। वेद आदि शास्त्रों के लिए तो यह अर्थ उपयुक्त हो सकता था, क्योंकि उनका प्रमुख उद्देश्य उपदेश देना ही है, परन्तु काव्य के साथ शास्त्र पद को संयुक्त करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता संस्कृत काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि से प्राप्त होता है। संस्कृत में ललित साहित्य का विशेष रूप से काव्य की रचना का विकास होने के साथ ही उसकी आलोचना की प्रणाली का भी विकास हुआ था।

संस्कृत साहित्य में काव्य एवं अलङ्कारशास्त्र का अनुपम एवं अद्वितीय योगदान है। इस साहित्य समरकोश में पौराणिक, धार्मिक आदि सभी विषयों का भरपूर वर्णन किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी काव्यशास्त्र के विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य का योगदान हर प्रकार के शास्त्रों, काव्यों, अलङ्कारों आदि में महनीय उपादान सिद्ध हो रहा है।

सन्दर्भाः

१. *ऋग्वेद – ३/३३/९*
२. *ऋग्वेद – १/९/२/४*
३. *वही – १/४३/१*
४. *वही १/१६४/२०*
५. *काव्यप्रकाश १०/१००–१०१*
६. *दशरूपक १/६८*
७. *ध्वन्यालोक १/५*
८. *रामायण, बा. काण्ड २/४०*
९. *ध्वन्यालोक २/१*
१०. *ध्वन्यालोक ४/५*
११. *काव्यप्रकाश ६/६५*
१२. *सूक्ति युक्तावली*
१३. *काव्यालङ्कारसूत्र १/१/१*
१४. *वही १/१/२*
१५. *वही १/१/२ वृत्ति*
१६. *काव्यादर्श २/१*
१७. *चित्रमीमांसा पृ. – ६*
१८. *काव्यमीमांसा पृ. ४*
१९. *विक्रमाङ्कदेवचरित १/११*
२०. *वक्रोक्तिजीवित १/१६*
२१. *शिशुपालवध २/८६*

''इति''

''त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुम्यमेवसमर्पये।''

सहायकाचार्य, साहित्य (संस्कृत)
३०४/६०A/१, इन्द्रपुरी बैरहना
प्रयागराज – (उ. प्र.)

❑❑

श्री श्री जीवन्यायतीर्थस्य प्रहसनानाम् अनुशीलम्

अनुप्रिया (शोधच्छात्रा)

प्रहसनसाहित्यस्य संस्कृतसाहित्येऽति महत्वम् अस्ति। नाट्यशास्त्रस्य लाक्षणिकविवेचनेन इदं तथ्यं पुष्टं भवति स्म। कालस्य गम्भीरान्तराले तानि कवलितानि प्रतीतानि भवन्ति।

लौकिकसंस्कृतस्य आदिकाले हास्यात्मकदृश्याणां प्रकरणाङ्ग समावेशः प्रासङ्गिक कथावस्तुरूपेऽभवत् किन्तु स्वतन्त्ररूपेण प्रहसनानां रचनाऽपि अभवत्। एषां प्रहसनानां सविस्तारविवेचनम् इत्थं कृतवान्।

भदृसकड्टम

श्री जीवन्यायमहोदयस्य "भदसड्कटम् पचाङ्कानाम् उच्चकोटेः प्रहसनमस्ति। अस्मिन् प्रहसने विवाह संस्कारः एकपत्निनिष्ठ भवतः सांस्कृतिक विशेषतां प्रजागर कृतः। एतस्मिन् विदूषकस्य न औदारिकताऽस्ति न च अश्लीलश्रृंगारस्य वर्णनमस्ति। अस्मिन् प्रहसने गूढ़पुरुषस्य वानरोभूतः उच्चकोटिच्छायातत्त्वस्य निदर्शनमस्ति। अस्याः क्रियायाः प्रयोगे श्री जीवन्यायमहोदयः सिद्धहस्तोस्ति।

रागविरागः

रागविरागनामक प्रहसनस्य रचना नवपचाशतधिकैकोनविंशतिशतम् (१९५९) वर्षे भस्य आद्य'अभिनयः सभासद्सु प्रतीत्यर्थम् अभवत्।

अस्मिनेकाड्की प्रहसनेअस्यैकस्य राज्ञो दरबारस्य (सभायाः) वर्णनमस्ति यत्र स राजा स्वराज्ये गीतगायने निषेधो कृतवान्। तथापि कोऽपि भिक्षुकः वीणायां गायनं राजभवनं सीपे आगच्छत।

भजरामचन्द्रमविरामं मधुरमुग्धतनुधरमभिरामम्। सीता-करतलशतदल लालित-भरतनयन जलधाराक्षालितनम् हनुमदग्रस्तकपालित पदमुगमात्मारामम्। इत्यादयः.....

द्वारपालकः तंविरमति स्म। तदनुपरान्त राजा तं भिक्षुकं गरदनियाकर नामक नगराद् वहिर्करोति, सम्पूर्ण जनपदेऽस्मिन् गीतं निषिद्धोऽस्ति।

द्विमुखसन्ध्योः विभक्तः एवं कविप्रतिभायाः उत्थापितः कथावस्त्वौ आधारित 'रागविरागम्' प्रहसने श्री जीरमहोदयः हास्योदभावकानां संवादानां रमणीय प्रेरक गीतानाम्य माध्यमेन सङ्गीतस्य माहात्म्यं प्रदर्शितवान्।

यथा-

सङ्गीत-साहित्यरसानभिज्ञः
प्रायः पशु पुच्छविषाणहीनः।
चरत्यसौ किन्तु तृणं न भुङ्क्ते
मन्ये पशूनामपि भाग्यहेतोः।।

श्लोकोऽयं महाकवि भर्तृहरि विरचितनीतिशतकस्य "साहित्यसङ्गीत-कलाविहीन".....।

इति श्लोकस्य भावस्य समानतां ग्रहणाति।

द्वितीयमुखन्ध्यौ घटनास्थली राजसभाऽस्ति तरुणदम्पती राजानं निकषावेदनं कृतवान् यत् वयं राजसदसि गीतं गायेम। राजा आदेशितवान् यत् मे आदेशं (आज्ञां) बिना गायकानां कोऽपि उपहार न दीयताम्, अन्यथा दण्डनीयो भविष्यति। तथापि पुरा तरुणोऽगायत् तत्पश्चाद् तरुणी-

सखि भज धैर्यमिदानीं शोचसि,
विगतां किं रजनीम्।

अतनं ननु तनु पुनरपि यत्नं
सहसा न त्यज निजधृतिरत्नम्।।

इत्थं भारतीय संस्कृतौ सुप्रकासेन प्रहसनमिदं महत्त्वपूर्णमस्ति।

चौर चतुरीयः श्री जीवः चौरतुरीय नामक प्रहसनस्य दौ सन्धिनां चौरकिलापाः विविध निगूढपक्षानां परिचय दत्तवान्।

चौरचतुरीय नामकः घटङ्कर काचिद् रात्री बहुसम्पत्ति गृहीत्वा प्रसन्ने जातः किन्तु तस्मिन् समये चौरं बन्धनस्य वृंते रक्षिनः आगतवन्तः तर्हि तं पश्यन्नेव घटङ्करः आत्मानं अन्धवत् तां अश्नुयत्।

''नेत्रहीनस्य में यथा दिवा तथा रात्रिः।।''

क्षुतक्षेमीय : क्षुतक्षेमीय प्रहसनस्य आद्याभिनयः संस्कृत साहित्यसमाजस्य प्रतिष्ठादिवसावसरे अभवत्। यमराजकर्मकरः चित्रगुप्तः पदातिः एवं गत्वा श्रान्ते सति कश्चिद्वणिक् रङ्गनाथस्य द्वारं स्वातिथ्यस्य कृते अनावृते समर्थोभवत्।

द्वितीयमुखसन्ध्यौ प्रथमद्वितीयश्च दौमुखसन्धिषु अस्ति केवलं स्ववाचैव कविः हास्यं नोत्पलं करोति वरन् अवागभिनयमात्रेणापि हास्यस्य सृष्टौ सः निपुणोऽस्ति।

मे हस्तो पूर्वं पश्येत् अस्यकृते भवागभिनयोऽस्ति।

''हस्तं प्रसारयति पाचकः भृत्यसृदुपरि।
पाचकस्तदुपरि हस्तं रक्षति।'' इत्यादयः।।

विधि विपर्यास : श्री जीवनयायतीर्थमहोदस्य विधिविपर्यास नामक प्रसहनमस्ति। हिन्दु कोड विले विमर्शस्य कृते चतुश्चत्वारिंशतदधिकं एकोनविंशत्यधिकं शतम् वर्षे वल्लभाचार्य श्री गोकुलनाथ महोदयं।

पूजायां सम्पूर्णभारतस्य धार्मिकविदुषां सभाम् आहूतवान्।

अस्यां सभायां श्री जीव महोदयः आगतः। कोडविलोऽयं भारतीय धर्मशास्त्रसम्मतं नास्ति, निर्णयोऽयं विद्वत्वपरिषद् कृतवान्।

अस्यावसरस्य स्मृतिम् अमरतायाः कृते कविः एतद्लघुरूपकस्य रचना कृते स्वधनं दत्वा च रचनेयं प्रकाशितवान्।

विधिविपर्यास्याभिप्रायोऽस्ति – (नियमः) ''कानून'' अथवा ''ब्राह्मणः अतिक्रमणं।'' तं नियमं खण्डितं शाश्वतधर्मस्य राष्ट्रस्य च मर्यादायाः विलोपीकरणमस्ति पतनगर्ते च अगमयत्।

प्रस्तुत–प्रहसने विनोद सुन्दर नामक युवती पुरुष विषयकश्च धर्मशास्त्रीयविषमतायाः धुरविरोधिनौ स्तः। सूत्रवाक्यम् आसीत् –

''एको गर्भः स्नेहसन्दर्भ एको बीजतुल्यं किन्तु मूल्यं विभिन्नम्।

पुत्र प्राप्तस्तात् सर्वस्वमान्यः वुत्री मूत्री भावमेतीव घृण्या।।''

नाटकेऽस्मिन् पात्राणां चारित्रिक विकासः कलात्मक विधिना प्रायोजितमस्ति, अस्यां कलापां जीवमहोदयः निपुणोगीत नंपुसकस्य प्रपञ्चः छायातत्त्वानुसारि चास्ति।

विवाह-विडम्बनम्– प्रस्तुत प्रहसने बङ्ग अथवा सत्यरूपेण अकथयत् तर्हि सम्पूर्ण हिन्दुस्तानी समाजस्य काचिद् रीत्येषु हसन्–हसन्तं प्रकाशयति।

रतिकान्तः सृष्टि वर्षस्य विधुरोऽस्ति तस्य विधुराभगिनी खड्गधराऽपि सहैव बसति, रतिकान्तः स्वविवाहविषयककामनाम् अभिव्यक्तं करोति। घटकः रतिकान्तं मूर्खः विनिर्जित्य तस्मैव धनं विलुंष्ठ्य चन्द्रलेखा इति नाम्ना युवति परिणयः रतिकान्तस्य स्थाने भास्कर शर्मा नामक पुत्रकेन सह कारयति।

अस्मिन् प्रहसने हास्य रसस्य समुचित प्रयोगं कुर्वन् श्री जीवः भारतीय समाजस्य कुरीतीनां निन्दितवञ्चकः प्रवृत्तीनाञ्च सुतीक्ष्ण कटाक्षम् अकरोत्।

रामनाम-दातव्य-चिकित्सालय - अस्य प्रहसनस्य आद्याभिनयः लेखकस्य जन्मभूमिः अहल्याः संस्कृतमहाविद्यालस्य वार्षिकसार स्वतन्त्रोत्सवे सम्पन्नो बभूव।

प्रहसनेऽस्मिन् एको क्षीवः (मन्तः) रामनामदातव्यचिकित्सालयः आरम्भवान्। सः सर्वव्यधीनाम् एक एव औषधिम् अददात्। सूत्रधारो अत्र तस्य सजोसमाजस्य विषये अकथयत्-

तुलसीभिः कृता रामेऽविरामं रामनामकृत्।

लोकदृष्ट्या भवन् क्षीवो जीवक्षेमापवर्तते।।

श्री जीव अनेन प्रहसनेन जनानुरुजनेन सदैव चिकित्सायाः स्वास्थस्य च बहूपयोगी सूत्राणां ज्ञानं ददाति स्म।

चण्ड-चाण्डव - चण्ड चाण्डवो पूर्वविश्वमहायुद्धस्य समये (१९४१-४६) सम्पूर्ण विश्वेषु धर्मविरोधीतानाशाहशासकैः विध्वंसकारी हिंसात्मक-प्रक्रियासु कटुव्यंग्यम् अकरोत। इमे शासकः धर्ममेव राष्ट्रस्य कृते पातकं धातकञ्च मन्यन्ते। श्री जीवमहोदयः अन्ते "विश्व कल्याणमस्तु" इति वदित्या विश्वकल्याणात्मक-योजना परिपूर्णसंवादेन उद्घाटितवान्।

शतवार्षिकम् - अस्यप्रहसनस्य माध्मेन सम्पूर्णकाण्डेषु वैज्ञानिकाविष्काराणां दुष्प्रभावं विनाशञ्च प्रति चिन्तां प्रकटीकरोति तत्रैव चन्द्रमा ब्रह्मणा तस्य परिचयम् अददात्-

दूरात क्षतानि कुरुते कायवक्षो मनांसि नः।

विद्युद्दामक्षियैर्यन्त्रैर्यन्त्रणादायिभिः सदा।।

चिपिटक चवर्ण - श्रीजीवमहोदस्य अस्य प्रहसनस्य प्रथमप्रणयनं नवपञ्चाशतदधिकम् एकोनविंशति शतं वर्षे अभवत्। अस्मिन् प्रहसने एकोऽतिशयधनीकपाल्या अप्रेला भृत्यः मार्गेऽक्षिपत् अतः कपाली बन्धनपाशं गृहीत्वा मरणन्तं उद्धतो जातः। कपाल्याः पत्नी रङ्गिणी पतिपरिचयः इत्यम् दन्तवती -

"मनोस्तु पतिदेवाय ब्रह्मविष्णु स्वरूपिणे।"

रङ्गिणी तान्त्रिकम् आहूतवती, अस्मिन् अवसरे पङ्गु.रामः चतुर्पादुकाः गृहीत्वा स्वामी निकषा अगच्छत्। कपाली पृष्ठान् यत् भवतः तान्त्रिकप्रयोगस्य कृते का दक्षिणा मया दीयते।

तान्त्रिको उत्तरमददात् -

"केवलं हर्रा। श्री जीवः परवर्ती प्रहसनेष्वपि इत्थमेव अनुपमछटा पश्यन्तं द्रष्टा।

पुरुष रमणीयम् - पुरुषरमणीय नामकं प्रहसनस्य रचना सप्तचत्वरिंशदधिकम् एकोनविंशति सहस्रतमेववर्षे स्वतन्त्रताया अरुणोदयेऽभवत्। जीवः पुरुष-रमणीयं पुरापद्यतिप्रहसनैः किञ्चिद् भिन्नं विनिर्मितः।

अस्मिन् प्रहसने सुवन्धुसोमदन्तौ द्वे स्नातकमित्रयोः अद्भुतकथायाः वर्णनमस्ति।

सांस्कृतिक-मूल्येषु रक्षां प्रति जागृतस्य कृते इदमुच्चकोटेः प्रहसनम् अस्ति, द्वितीयाङ्कस्य श्लोकोऽयं दृष्टकोऽस्ति -

बिना विवाहं दाम्पत्यं परिहासाय कल्पते।

स्वतः स पुमान नागाः स्याद् योषा दोषास्पदी भवेत्।।

समाजस्य कृते याचनास्य प्रवृतिं निकृष्टोऽवदत्। सम्पूर्ण प्रहसने श्री जीवमहोदयः हास्यात्मक वर्णनानां श्रेष्ठसंयोजनं करोति।

स्वातन्त्रय-सन्धि क्षणम् – स्वातन्त्र्य-सन्धिक्षणम् एकाङ्की प्रहसनमस्ति। अस्मिन् रूपके देशस्य राजनैतिकपरिस्थित्याः वर्णनमस्ति, यस्मिन् भारदेशः स्वतन्त्रोऽभवत् किन्तु विखण्डितं भूत्वा, विभाजनस्य कारणं वैदेशिकशासकानां नीति कथितवान्।

हास्य रसस्य अल्पमात्रायां प्रयोग कुर्वन् वैदेशिकशासकानां कूटनीत्याः भारतस्य दुर्दशायाश्च ज्ञानं कारयति।

वन भोजन

प्रहसनेऽस्मिन् श्री जीवमहोदयः किंचिद्मित्राणां मूर्खतापूर्ण हास्ययुक्तः गतिविधीनां चित्रणं कृतवान्।

विद्यालयस्य षड् छात्राः :- सुप्रियः देवप्रियः सुमन्त्रः सुबुद्धि अभिरामः अतिप्रियश्च वनभोजनस्य कृते सर्वाणि वस्तूनि स्थापितवन्तः। सुप्रिय देवप्रियश्च उदरं हस्तेन परिभ्रमन् अगायताम्।

''उदरत्वमद्ये परम ब्रह्म।''

वनभोजनस्य प्रस्तावना हास्यमय्यास्ति। अस्मिन् प्रारम्भेव अभिनयोऽस्ति, विदूषकस्य मुखं पृष्ठतं कृत्वा चलन् रङ्गमञ्चे आयातः। वार्तेयम् अभवत् यत् तस्य पारिश्रमिकं दृष्ट्वा भार्या अकथयत् यदि बहुधनं न इच्छतु तर्हि वनं गच्छ। इदं प्रहसनं द्वौमुख सन्धिसु विभक्तोऽस्ति।

दरिद्र-दुर्दैव

श्री जीवः अष्टाषष्ट्यधिकम् एकोनविंशतिशतम् तमे वर्षे-प्रकाशित दरिद्र-दुर्दैवस्य विषये अकथयत् यत् सम्प्रति रचितमेप्रहसनेषु इदमन्तिममस्ति।

अस्मिन् प्रहसने वक्रेश्वर नाम्नःदरिद्रब्राह्मणः सिद्धयुगलेन प्राप्तनिधिं स्वबुद्धिदोषः कुत्सितमात्सर्यञ्च मनोवृत्तेः कारणं नष्टो कृतः।

हास्य रसेन परिपूर्णः सम्बादानां माध्यमेन मनुष्यस्य घृणितप्रवृत्तेः निन्दयति एव अस्यरूपकस्य प्रयोजनं प्रतीतोऽभवत्।

''नष्ट हास्यम्'' तैलमर्दनञ्चापि श्रेष्ठकोटेः प्रहसनमस्तः। द्वौ मुखसन्धिषु विभक्तः क्षुतक्षेमीय प्रहसने श्री जीवन्यायतीर्थमहोदयः वाण्या एव हास्यस्य प्रादुर्भावः कृतवानेव किन्तु मूकाभिनयेनपि हास्यस्य रुचिरसृष्टिं कृतवान्।

'चिपिचक-चवर्णत्' प्रहसनं सद्यस्य कृपणतायाः दुर्वत्तौ व्यङ्ग्यं करोति। श्री जीवेन सृजित चिपिचक-चवर्णस्य हास्ययुक्तं एकं श्लोकं-

''नमोऽस्तु पतिदेवाय, ब्रह्मविष्णु स्वरूपिणे।
चतुर्मुखोऽसि कलहे, ताडने च चतुर्भुजः।।''

इत्थं पात्रयोजना बिम्बप्रतीकः हास्यव्यङ्ग्यस्य च अनुपमा छटा, प्रायः सर्वाणि प्रहसनानि अस्मिन् बिन्दौ श्रेष्ठो जातः।

सदैव श्री जीवन्यायमहोदयः एकःसफल-प्रहसनकारः कथ्यते। अयं तस्याधिकारोऽस्ति।

सन्दर्भः

१. *प्रहसनं परम्परा भगवदज्जुकीयकम् – डॉ. उमेशभट्ट कृत।*

२. *दृग – २४-२५ दृग्-भारती इलाहाबादः पृ. – ११३*

३. *बींसवी शताब्दी के संस्कृत प्रहसनों का अध्ययन – डॉ. नरेन्द्र नाथ यादव।*

शोधच्छात्रा, केन्द्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः

❑❑

डॉ० श्यामसुंदर दुबे के साहित्य में ग्राम्य-समाज का स्वरूप एवं इतिहास

डॉ० अम्बिका प्रसाद

चारागाही जीवनचर्या के बाद मनुष्य ने कृषि आधारित जीवन का समारम्भ किया। कृषि ने जीवन को स्थायित्व प्रदान किया और मनुष्य ने समूह में बसना शुरू किया। समूह की अवधारणा के अन्तर्गत कृषि से सम्बन्धित अनेक कर्मकाण्ड और अनेक प्रकार के व्यवसायों का भी विकास हुआ और समूह आधारित समाज ने अपने लिए अनेक सामाजिक अवधारणाएं विकसित की इस तरह की सामूहिक जीवन पद्धति से ही ग्राम की अवधारणा का विकास हुआ। संस्कृत में ग्राम्य शब्द का अर्थ होता है 'समूह' जब स्थायी रूप से कृषि जैसे कर्म से जुड़कर उसके अनेक अनुषांगिक कार्य व्यापारों का संपादन करने लगा तभी ग्राम्य संस्कृति का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे इस संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का क्रम बना, यही वर्ण व्यवस्था कालान्तर में जाति प्रथा का आधार बनी, वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था की संकल्पना का निदर्शन प्राप्त होता है। पुरुष सूक्त में चतुर्वर्ण व्यवस्था का उल्लेख है। बाद में इसी सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्राप्त होता है। इसमें गुण कर्म के आधार पर समाज के विभाजन का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुस्मृति में जातियों का भी उल्लेख मिलने लगता है। इस तरह ग्राम्य स्तर पर वर्णों और जातियों के समूह की चर्चा के साथ इनसे सम्बन्धित उद्योग धन्धों का भी उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में है। आज जो ग्राम्य समाज परिलक्षित हो रहा है वह लगभग ग्राम्य के इसी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। हमारे इस समय का ग्राम्य समाज अधिकांशतः हमारे मध्यकालीन जीवन मूल्य और बोध की अवधारणा वाला है। अभी भी गाँव कृषि केन्द्रित हैं। कृषि से जुड़े तमाम तरह के रोजगार और व्यवसाय ग्राम्य समाज में प्राप्त होते हैं। आज भी ग्राम्य में धार्मिक जीवन का महत्त्व है। वहाँ अभी भी लोक विश्वास और लोक आस्थाएं विद्यमान है। वहाँ के लोक संस्कार वहाँ के सांस्कृतिक जीवन को प्रस्तुत करते हैं।

प्रारम्भ में गाँव एक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई की तरह थे। अंग्रेजो के आगमन के साथ ही इनकी आत्मनिर्भरता खंडित हुई। महात्मा गांधी ने इस तथ्य को अनुभव कर लिया था इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के आन्दोलन के साथ ग्रामीण पुनर्निर्माण का भी आन्दोलन चलाया। महात्मा गांधी गाँव को फिर से एक स्वतंत्र इकाई और आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त गांधी जी की ग्राम्य सम्बन्धी धारणाओं को नजर अन्दाज कर दिया गया, इसीलिए ग्राम्यों की आत्मनिर्भरता लगभग समाप्त हो गई। वहाँ के जीवन में अनेक तरह की विसंगतियाँ उत्पन्न हुई। अनेक अन्तर्विरोध वहाँ क्रियाशील हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बहुत वर्षों बाद गाँवों के विकास के लिए ग्राम्य पंचायती राज की स्थापना की गई और आज गाँवों को जिस तरह हम अनुभव कर रहे हैं। वह अनुभव एक तरह का राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रदूषण का ही दृश्य प्रस्तुत करने वाला है।

आज गाँवों में जातिवाद का बोल-बाला है। समाज जातिवाद में बट चुका है। राजनीति के ठेकेदारों ने जातिवाद रूपी वृक्ष को पल्लवित और पुष्पित किया है। आज गाँवों में जातिवाद के प्रवेश ने वहाँ की मिठास को छीन लिया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी जाति और वर्ण की बात भगवान श्रीकृष्ण ने भी कही है। गीता के चौथे अध्याय में एक

श्लोक है–

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।'

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चार वर्णों का समूह गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है।"[१] अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण ने गुण और कर्मों के आधार पर चार वर्णों की व्यवस्था की। इसी ने आगे चलकर जाति आधारित व्यवस्था का रूप ले लिया जिसका विकृत रूप आज सबके सामने है।

मनुस्मृति में जाति व्यवस्था का उल्लेख है। "मनु वर्ण व्यवस्था का निर्धारण मूलतः कर्म से मानते हैं, जन्मना नहीं यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आश्यकता नहीं थी, क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे, लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से स्पष्ट होता है कि मनु धर्म–अधर्म, कर्म और अवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं। यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाए तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्म व्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी।"[२] अर्थात् यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति जन्मना वर्ण–व्यवस्था को स्वीकार नहीं करती।

मनुकाल की संस्कृति सुसंस्कृत थी उच्च आदर्श स्थापित थे, व्यवस्था में कोई भेदभाव नहीं था। वर्णव्यवस्था जन्म आधारित न होकर कर्म आधारित थी, लेकिन बाद में "परवर्ती काल में व्यवस्थाएं और परम्परायें विकृत एवं शिथिल हो गई। वर्ण व्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना मानी जाने लगी। ज्ञान विद्या पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य हो गया। उन्होंने अपने को सर्वोच्च तथा पवित्र घोषित किया और स्त्री, शूद्र को घृणास्पद तथा अस्पृश्य बताया अवान्तर काल की इन विकृत व्यवस्थाओं को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में स्थान–स्थान पर उनका प्रक्षेप कर दिया और उन वर्णनों को पढ़कर ही आज यह माना जाने लगा कि ये विकृतियाँ मनुकालीन समाज में भी थी। इन प्रक्षिप्तों के आधार पर ही आलोचक आज यह आक्षेप करते हैं, कि मनुकालीन समाज में जाति–पांति स्पृष्यास्पृश्य की भावना, स्त्री–शूद्रों के प्रति हीन दृष्टि थी।"[३] मनु ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था मानी निम्नांकित श्लोक से यह अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है–

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।[४]

अर्थात्– श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है।

'वर्णो वृणोते' अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है–

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः

गुण कर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः[५]

अर्थात् गुण–कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है।

ग्रामीण समाज का सम्पूर्ण सामाजिक आधार जाति केन्द्रित रहा। इन जातियों का कुछ तो सम्बन्ध उनके व्यवसाय से रहा है, लेकिन कुछ सम्बन्ध सामाजिक संस्तरीकरण से रहा है। व्यापार उद्योग धन्धे के आधार पर कृषि से उपजीव्य अन्य धन्धों जैसे–बढईगीरी, लोहारी आदि के आधार पर भी जातियों की पहचान प्राप्त होती है। लोहे का काम करने वाला लोहार, लकड़ी का काम करने

वाला काष्ठकार, सोने का काम करने वाला सोनार आदि जातियाँ गाँव में व्यवसाय आधारित थी। इसी तरह विद्याध्ययन कराने वाला पूजन एवं अन्य सामाजिक संस्कार कराने वाला पुरोहित वर्ग भी रहा है। ग्राम्य समाज के उपभोग के लिए वस्तुओं का विक्रय करने वाला छोटा-मोटा व्यापारी भी गाँव में निवास करता था।

इस तरह से जातियों का सम्बन्ध व्यवसाय वृत्ति से था। धीरे-धीरे ये जातियाँ रूढ़ होती गई इनमें उच्चता एवं निम्नता का भेद पैदा हुआ। सामान्यतः जो पठन-पाठन और मस्तिष्क के कार्यों से जुड़ी जातियाँ थी वे उच्चता प्राप्त करती गई और श्रम से जुड़ी हुई जातियाँ निम्न स्तर पर आती गई। इन जातियों के मध्य छुआछूत जैसी प्रथाएँ भी प्रारम्भ हुई और ग्रामीण समाज जातियों आदि वर्गों में बट गया। "जाति और वर्ण आधारित सामाजिक संरचना में सामाजिक संस्तरीकरण एवं संस्कृतिकरण का सोपानबद्ध रूप था-गाँव के भीतर जातिगत और वर्णगत अवधारणा के अनुसार खान-पान, शादी-सम्बन्ध और छुआ-छूत की भावना विद्यमान थी।"[६] गाँवो में उच्चवर्ग, सामान्य वर्ग, श्रमिक वर्ग, मालगुजार, शोषक और शोषित सभी वर्ग के लोग निवास करते हैं। साहूकार भी रहते हैं और ऋणग्रस्त भी रहते हैं।

उच्चवर्ग के लोग गाँव में रहने वाले सभी लोगों को अपने अधीन समझते हैं और अधीन होते भी हैं, क्योंकि गाँव के उच्च वर्ग जो साहूकार भी कहे जाते हैं इनके पास गाँव के प्रत्येक वर्ग से ज्यादा खेती होती है। गाँव में सबसे बड़ा मकान होता है। ये सभी वर्गों से ज्यादा धनी होते हैं। गाँव के कमजोर वर्ग इन्हीं की खेती में काम कर अपना पेट पालते हैं और साहूकारों से पैसा लेकर छोटा वर्ग एक तरह से अपने आपको इनके पास गिरवी रख देता है। पूरे गाँव में इन्हीं का दबदबा चलता है। सामान्य वर्ग के लोग न बहुत धनाढ्य होते हैं न कमजोर गाँव में ज्यादा इनका दखल नहीं होता है। श्रमिक वर्ग दिनभर साहूकारों की मजदूरी करता है। साहूकार श्रमिक वर्ग की दिन भर की वास्तविक मजदूरी भी नहीं देते हैं। इनके पास गाँव में ज्यादा न तो खेती होती है, न पैसा कमाने का अन्य कोई साधन क्योंकि श्रमिक वर्ग के पास पूंजी की कमी रहती है। उच्च वर्ग उच्च ही होता चला जा रहा है और श्रमिक वर्ग कमजोर होता जाता है। श्रमिकों को साहूकारों के अधीन काम करना पड़ता है। ये अपने बच्चों को भी अपने साथ काम पर लिये रहते हैं और बचपन को काम पर धकेल देते हैं। यह बचपन धीरे-धीरे काम में मरता-खपता बूढ़ा हो जाता है। अर्थात् श्रमिक वर्ग की पीढ़ी श्रमिक ही होती चली जा रही है और साहूकार की पीढ़ी साहूकार। साहूकार भी नहीं चाहता कि मजदूरों के बच्चे स्कूल जायें और पढ़ाई करें, क्योंकि यदि सभी लोग पढ़ लिख लेंगे तो उनकी नौकरी कौन करेगा?

गाँव के लड़ाई-झगड़े या अन्य कोई भी बात हो तो उसके लिए ग्राम पंचायत है। पंचायत में पाँच लोग चुने जाते हैं। जिन्हें 'पंचपरमेश्वर' की संज्ञा से नवाजा गया है। इन परमेश्वरों से गाँव की जनता को सत्य की जीत का भरोसा रहता है लेकिन होता इसका उल्टा है, क्योंकि पंचपरमेश्वर गाँव के उच्चवर्ग के लोग साहूकार ही बनते हैं, इसलिए ग्राम पंचायत का फैसला हमेशा साहूकारों के पक्ष में रहता है। गरीब बेचारे मनमसोस कर रह जाते हैं। पंचायत का फैसला सबको मानना पड़ता है।

गाँव में एक प्राथमिक विद्यालय होता था। विद्यालय केवल नाम का विद्यालय पढ़ाई-लिखाई के नाम पर शून्य। स्कूलों में उच्चवर्ग के बच्चे पढ़ते थे। श्रमिक अपने बच्चों को काम पर भेजते की कुछ ही कमाकर लायेगा, क्योंकि कभी-कभी उनके पास खाने तक को नहीं रहता था। इसलिए पढ़ाई उनके लिए गौण चीज थी

और पेट भरना मुख्य कार्य था। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में भी बहुत असमानता गाँवों में रहती थी। इतना विकास हो जाने के बाद आज भी वह समस्या बनी हुई है।

सूचनाओं के आदान-प्रदान के लिए केवल पोस्ट ऑफिस होते थे। गाँव में डाकिये के आने पर गाँवो वालो का खुशी का ठिकाना नहीं रहता था। यदि किसी परिवार का सदस्य बाहर है, तो वह पोस्ट ऑफिस के दस दिन में एक चक्कर जरूर लगा लेता था।

गाँव का आदमी जल्दी बीमार नहीं होता था क्योंकि वह शारीरिक परिश्रम करता था। गाँव के कई लोग प्राथमिक उपचार जानते थे। जल्दी डॉक्टर के पास नहीं जाते थे। स्वास्थ्य सुविधाओं का गाँवो में अभाव था। यदि कोई गम्भीर बीमारी से ग्रस्त हो जाये तो उसको शहर ले जाते थे या फिर गाँव में वह ईश्वर भरोसे पड़ा रहता था।

गाँवों का धीरे-धीरे विकास होना शुरू हुआ और अब गाँवों में पूरी तरह शहर प्रवेश कर चुका है। गाँव में अब शोषक और शोषित की दूरी मिट रही है। शोषित वर्ग पहले केवल साहूकारों के यहाँ काम करने के लिए बाध्य था। अब वह बड़े महानगरों की ओर पलायन कर रहा है, जिससे वह केवल वहाँ पैसा ही नहीं कमा रहा बल्कि शहर का रहन-सहन सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ रहा है, जिससे गाँव का पूरा वातावरण बदल रहा है। विकास के सारे साधन गाँव पहुँच रहें है। हल बैल की जगह ट्रैक्टर ने ले ली है। सड़क बिजली पहुँचने से सूचनाओं का आदान-प्रदान तेजी से होने लगा। स्कूलों की संख्या बढ़ी और आज प्रत्येक घर से बच्चे स्कूल पढ़ने जाते हैं।

चिकित्सा सुविधांए बढ़ गई, प्रत्येक गाँव में एक सरकारी अस्पताल खुल गया है। गाँव के लड़ाई झगड़े अब पंचायतों तक सीमित नहीं रह गए क्योंकि अब प्रत्येक घर में एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति बैठा है। पैसे का भी खूब आवागमन हो रहा है, इसलिए अब गाँव का एक छोटा सा झगड़ा निपटाने के लिए लोग न्यायालय जाते हैं। गाँव अब पूरी तरह जागरुक हो गया है।

लेकिन गाँवो का यह विकास जितना अच्छा लग रहा है उतना है नहीं। ऊपर से हम विकसित हो रहे हैं और अन्दर से खोखले होते जा रहे हैं। हमें अपनी संस्कृति और मूल्यों की परवाह ही नहीं है। गाँव के मूल्य अब नष्ट हो रहे हैं। हम अपनी संस्कृति को भूल रहे हैं। रिश्तों की परवाह अब किसी को नहीं है। डॉ० दुबे की चिन्ता यही है कि हमे अपने मूल्यों, परम्पराओं और संस्कृति को गिरवी नहीं रख देना है।

ग्रामीण समाज का आर्थिक आधार कृषि केन्द्रित रहा है। कृषि से सम्बन्धित उद्योग-धन्धे कृषि कार्य के सहायक के रूप में गाँव में विकसित हुए। इन सब उद्योग-धन्धों का एक मात्र लक्ष्य था। ग्रामीण समाज को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाना, गाँव में जो उत्पादित हो रहा था उस उत्पादित को गाँव में ही उपभोग योग्य बनाया जाता था। कपड़े, मसाले, भोजन, सामग्री, लकड़ी, लोहा से सम्बन्धित औजार और वस्तुओं का निर्माण साग-सब्जी और अन्य खाद्य-पदार्थ आदि सभी तरह के जीवन में काम आने वाले पदार्थ गाँव में ही बनते थे और इस तरह कच्चे माल के उत्पादन से लेकर उन्होंने उपभोग वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने का सिलसिला गाँव की इकाई में ही पूर्ण होता था।

ग्रामीण आर्थिक तंत्र में कृषि की भूमिका महत्वपूर्ण थी, इसलिए कृषि से जुड़े हुए समूह का महत्व ग्राम समाज में सर्वाधिक रहा है। ''आर्थिक हैसियत के आधार पर गाँव में व्यक्ति को सम्माननीय स्थान प्राप्त था, अमूमन सभी गाँवों की तरह भूमि सम्पत्ति का अर्जन महत्वपूर्ण था। भू-स्वामी बनने की इच्छा किसी जाति या धर्म विशेष तक सीमित न होकर लगभग हरेक में पाई जाती थी। आदमी की हैसियत इससे नापी जाती थी कि उसके पास

खेती योग्य कितने एकड़ जमीन है-कितनी जोड़ी बैल है?"[७] धीरे-धीरे गाँवों के आर्थिक रूप से आत्म निर्भर ढाँचे का टूटना प्रारम्भ हुआ। गाँवों के लघु कुटीर उद्योगों पर कुठाराघात हुआ और वे शहर के बाजार का मुखापेक्षी बन गए, उसके द्वारा उत्पादित कच्चा माल शहरों में स्थित मिलों और मशीनों के हवाले होने लगा और फिर वहाँ से वस्तु रूप में गाँव तक आने लगा। इस तरह ग्रामीण उपभोक्ता अपने ही माल को अनेक दो गुनी कीमतों में खरीदने को बाध्य हुआ।

आज गाँव की आत्म निर्भरता एकदम समाप्त है। यही वजह है कि गाँव में बेरोजगारी फैल रही है और ग्रामीण जीवन निरन्तर संघर्ष से जूझ रहा है। आधुनिक युग के संसाधनों का भी पर्याप्त प्रसार गाँवो तक नहीं हो पाया है। बिजली, सड़क, पानी आदि संसाधन ग्रामीण आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किन्तु आज भी अनेक गाँवो में इन संसाधनों का अभाव है। इससे ग्रामीण उत्पादन पर भी असर पड़ रहा है। गाँव में ट्रैक्टर आदि यंत्रों के पहुँचने से वहाँ से मजदूर बेदखल हुए हैं और वे महानगरों की ओर पलायन कर रहे हैं। इस तरह गाँवों का आर्थिक आधार चरमरा रहा है। आर्थिक आधार के चरमराने का असर वहाँ के सामाजिक जीवन पर भी पड़ रहा है। सामाजिक जीवन में कलह, हिंसा और आपसी बैर भाव फैल रहा है। जुआ, सट्टा, शराब आदि का प्रचलन गाँवो को और दुर्बल बना रहा है।

इस तरह आज हमारे सामने ग्रामीण जीवन विकृतियों का शिकार है। अब न तो हमारे गाँव सामाजिक दृष्टि से सामरस्य रहे, न ही सहिष्णु रहे और न ही आर्थिक दृष्टि से समुन्नत रहे। एक तरह से गाँव अनेक विकृतियों से ग्रस्त सामाजिक इकाई के रूप में क्रियाशील है। कभी कहा जाता रहा होगा 'अहा' ! ग्राम जीवन क्या है। क्यों न इसे सबका मन चाहे किन्तु आज तो ग्राम जीवन कविता की इन पंक्तियों में व्यक्त हो रहा हैं- 'गाँव अब रेल की खिड़की से ही सुन्दर नजर आता है।'

यही वजह है कि गाँव से उकताए हुए लोग नगरों की ओर भाग रहे हैं।

सहायक प्रोफेसर
श्री अनन्तराम द्विवेदी स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भीटा, प्रयागराज।

सन्दर्भ

१. *श्रीमद्भगवद्गीता 'संत श्री आसाराम जी आश्रम'- अध्याय-४, श्लोक-१३, पृष्ठ-११०.*
२. *मनुस्मृति - सं०- श्री राजवीर शास्त्री, प्रकाशक- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, अध्याय-तृतीय, पृष्ठ- ७७.*
३. *मनुस्मृति - सं०- श्री राजवीर शास्त्री, प्रकाशक- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, अध्याय-द्वितीय, पृष्ठ- ७३.*
४. *मनुस्मृति - सं०- श्री राजवीर शास्त्री, प्रकाशक- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, अध्याय-द्वितीय, पृष्ठ- ७७.*
५. *मनुस्मृति - सं०- श्री राजवीर शास्त्री, प्रकाशक- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, अध्याय-तृतीय, पृष्ठ- ७९.*
६. *संस्कृति, समाज और संवेदना - डॉ० श्यामसुन्दर दुबे, पृष्ठ-१५.*
७. *संस्कृति, समाज और संवेदना - डॉ० श्यामसुन्दर दुबे, पृष्ठ-१५.*

❑❑

श्रीमाधवसदाशिवराव-गोलवलकर (गुरु जी) श्रीगुरुजी-हिन्दूजीवन-दृष्टेर्व्यापकता

सर्वेश शुक्लः

श्रीमाधवकेशवसदाशिवरावेण हिन्दूधर्मस्य अतिसूक्ष्मं गहनं च अध्ययनं कृतम् । यथार्थवेत्ता पथप्रदर्शकः देशव्यापिनः बहुमुखान्दोलनस्य च प्रवर्तकः आसीत् ।[१] तस्य सम्मतिः आसीत् यत् हिन्दूसंस्कृतिः जीवने नूतनां दृष्टिम् उद्घाटयति। साहि दृष्टिः भौतिकताया आध्यात्मिकतायाश्चालोकेन सम्पन्ना भवति। केवलं हिन्दूविचार एव सर्वत्र आध्यात्मिकतायाः प्रभावेण पूर्णो भवति। सनातनधर्माश्रितं हिन्दूसामाजिकदर्शनं (एकात्ममानवतावादं) अधुनापि प्रासङ्गिकं वर्तते। पूँजीवादस्य साम्यवादस्य च पटलेषु पूर्णितसंसारस्य त्राणाय एकमात्रोपायोऽस्ति हिन्दूसिद्धान्तः। श्रीगुरोर्दृढविश्वास आसीत् यत् भारतीय जीवनपद्धतिर्वा सामाजिकविकासेऽरोधं विना वैयक्तिकं स्वातन्त्र्यं सुनिश्चितं करोति। पद्धतिरियं सांसारिकावश्यकाताभ्यः विमुच्य मनुष्यान् ईश्वरोन्मुखान् करोति। तस्य (श्रीगुरोः) दर्शनंजीवनदृष्टिश्च सनातनधर्मस्य सुदृढवैज्ञानसिद्धान्तानामवलम्बेन तिष्ठति स्म। तस्य दृष्टिः विचारो वा स्पष्टमसन्दिग्धं आसीत् । हिन्दूसमाजस्य मुख्योद्देश्यं कार्यं च पूर्णमानवस्य निर्माणः पूर्णमानवं चोच्चीकृत्य नरभावात् नारायणभावस्य प्रापणमस्ति। यदा नरस्य वातावरणं समाजस्य संगठनं च अनुकूलतां नयतितदैव सम्भवति स विकासः। 'अस्माकं हिन्दूसमाजः चरमलक्ष्यस्य दृष्ट्या तथैव निर्मितः आसीत् स्वमातृभूमेः पूर्णतादात्म्यमासीत् तस्य। विविधाः भाषाः विविधा उपासनापद्धतयः, विविधवेशभूषा च भारतवर्षस्य विविधवर्णश्चित्तस्य आत्मनः सौन्दर्यं प्रकटयति। एतेषां सम्मेलनेन हिन्दूराष्ट्रियतायाः निर्माणोऽभूत् यदि सनातनधर्मस्य पररूपमासीत् । श्रीगुरोः जीवनस्य मुख्योद्देश्यमासीत् ।'[२]

चिरन्तनहिन्दूराष्ट्रियतायाः उत्थानम् , संरक्षणम् , प्रोत्साहनञ्च। अस्योद्देश्यस्य पूर्तये गुरुणा कठोरश्रमः कृतः। सम्पूर्णजीवनं समर्पितम् । श्रीगुरोः दृढविश्वास एव आसीत् यत् सनातनधर्माश्रिता हिन्दूसामाजिकव्यवस्था समुचितशोधनेन सह अद्यापि प्रासङ्गिकी अस्ति। अत्र साप्यवादस्य पूँजीवादस्य च दुर्बलता नास्ति। किन्तु द्वयोर्द्वयोः वैशिष्ट्यानि विद्यन्ते हिन्दूव्यवस्थायाम्। हिन्दूनां सामाजिकव्यवस्था व्यक्तिगतप्रेरणाः सामाजिकानुशासनं च संयोजयति। व्यवस्थेयं साम्यवादिनामिव व्यक्तेर्दमनं न करोति न च पूर्णवादिनानि समाजं व्यक्तेः स्वार्थपूर्तिसाधनं कारयति। भारतस्य तादृशी व्यवस्था अन्येषां देशानां प्रेरणास्रोतो भविष्यति।

'श्रीगुरोः हिन्दूजीवनदर्शनं विच-वैज्ञानिकता-स्पष्टवादिता-व्यापकताभिः सहैव विकासपूर्णमासीत् । हिन्दूजीवनशैल्या एव मानवस्य मूल्यानाम् आदर्शानाम् अक्षुण्णता सम्भवति। हिन्दूशब्द विशिष्टसमाजस्य द्योतकोऽस्ति। अस्माकं शास्त्रेषु वर्ण्यते एवम् ।[३] शब्देऽस्मिन् हि वर्णः हिमालयस्य द्योतकोऽस्ति तथा च हिन्दु शब्द इन्दु सरोवरात् गृह्यते। अनेन मातृभूमेः सम्पूर्णः विस्तारः प्रकाश्यते –

हिमालय-समारभ्य यावत् इन्दुसरोवरम् ।
तत्र देवनिर्मित देशं हिन्दूस्थलं प्रचक्षते।।

सामाजिकी समरसता सामाजिकं दर्शनं वा

"समरसामाजिक जीवनेषु श्रेष्ठसैनिकमवलम्बं मन्यते श्रीगुरुणा। निसर्गतया दृश्यमाना असमानता तु भवति एव।

अद्यत्वे समाजे चातुर्वण्यव्यवस्थायाः जातिव्यवस्थाया अस्पृश्यताया दृश्यमानं चित्रं तु सामाजिकसमरसताया कृते अतीवबाधकं भवति।"[४] अस्याः सामाजिकरूग्णतायाः उन्मूलनमीहितं श्रीगुरुणा। अद्यत्वे समाजे एकात्मभावः परमावश्यको जायते। सामाजिकरसतायाः विचारप्रसङ्गे नववासिनां बन्धूनामपि विचारः कर्त्तव्यः स्यात्। आंग्लजनैः आदिवासितिसंज्ञा प्रदत्ता तेभ्यः। श्रीगुरोर्वक्तासीत् यत् अधुना अस्माकं परमकर्त्तव्यमस्ति यत् त्रयं तेषामुपेक्षित जनानां मध्यं गत्वा तेषां जीवनस्तरस्य उन्नयनाय सम्पूर्णशक्तिना कार्यं करवाम्। तादृशाः योजनाः निर्मेतव्याः यतः तेषां मूलभूतावश्यकता सुखसाधनानि वा पूरयेम।

"समाजः जीवनमानसङ्कल्पना अस्ति वयं च समाजस्य गात्राणि। एक एव सामाजिकैश्चैतन्यः अस्मासु विद्यते। तस्य चैतन्यस्य भावेन वयं सर्वे समभावाः। परस्परं पूरकः वयं समरसा स्म। एवं गुरोः धारणा आसीत्।"[५]

श्रीगुरुमहोदयस्य विचार आसीत् यत् हिन्दूराष्ट्रस्य उत्थानाय हिन्दूसमाजोत्थानं परमावश्यकमस्ति। आत्मग्लानेर्निवारणाय आत्मावबोधो जागृयात्। स्वार्थपरायणातायाः स्थाने निःस्वार्थभावस्य निर्माणो भवेत्। सर्वान् भेदान् परित्यज्य एकात्मभावस्य जागरणं एकात्मः एकरसः समरसो वा हिन्दूसमाजः विनिर्मीयात्। अस्यैव महतो लक्ष्यस्य प्राप्त्यर्थं राष्ट्रियस्वयंसेवकसंघस्य जन्म अभवत्। तस्य च साधनभूता संघशाखा अस्ति। अनेनैव माध्यमेन सः जीवनपर्यन्तं समाजसंगठेन राष्ट्रोत्थानस्य साधनामकरोत्। सामाजिकसमरसातायाः सन्दर्भे सेवाकार्यस्य योगदानं अनन्यसाधारणं भवति इति मान्यता आसीत्।[६]

"स्वामिविवेकानन्देन दरिद्रनारायण इति शब्दः प्रयुक्तः। दरिद्रजने नारायणो वसति इति मत्वा शिवभावेन जीवसेवा कर्त्तब्या। अस्यैव मार्गस्य साधक आसीत् श्रीगुरूजी।" तस्य कथनमासीत् यत् सर्वे दुःखिनः भगवत्स्वरूपः भवन्ति एव भगवता स्वयं सेवायाः अवसरः प्रदत्तः एवं विचार्य भगवतः प्रत्यक्षसेवायै उद्यतो भवेत्। श्रीगुरोः कथनमासीत् यत् नरं भगत्स्वरूपं मत्वा तस्य सेवा कर्त्तब्या। सेवामाध्यमेन समाजं सत्त्वसम्पन्नं उत्कर्षमयं स्वाभिमानयुतं कर्तब्यम्।[७] समाजस्य सुरक्षायै प्रयतेत्। सामाजिकसमरसता मनोगुणत्वमस्ति। आत्मीयतां बिना समरसता असम्भवा। अधुना समाजे व्याप्तं चातुर्वण्यं जातिविधान-अस्पृश्यतादीनां चित्रं सामाजिकसमरसतायै परमबाधकं तिष्ठति। श्रीगुरुजी एतस्या रूग्णतायाः उन्मूलनाय प्रयतत्। श्रीगुरोः भूमिका समाजस्य सार्वधिकः सार्वकालिकश्च कल्याणप्रदः आसीत्। तस्य सम्मतिरासीत् यत् सामाजिकसमरसतायाः माध्यमेन समग्रसामाजिकहिन्दूदर्शनं सम्मतिरासीत् यत् सामाजिक-समरसतायाः माध्यमेन समग्रसामाजिक-हिन्दूदर्शनं विकासस्य पथि अग्रेसरिष्यति। तदैव राष्ट्रस्य एकता अखण्डता अक्षुण्णा भविष्यति।

सन्दर्भ सूची

१. *नवयुग प्रर्वतक श्री गुरूजी, पृ. १५२-१५९*

२. *नवयुगप्रवर्तक श्री गुरूजी, पृ. १५२-१५९*

३. *हिन्दू जीवनदृष्टि और गुरुजी – संकलनकर्ता-पी परमेश्वर पृ. १-१६*

४. *श्री गुरूजी एवं सामाजिक समरसता संकलनकर्ता, रमेशपतंगे पृ. २२-२३*

५. *श्री गुरूजी समग्र, खण्ड – ५५, पृ. १०२*

६. *श्री गुरूजी समग्र खण्ड – ५५, पृ. ३६*

७. *श्री गुरूजी सामाजिकसमरसता संकलनकर्ता – रमेश पतंगे, पृ. २०-२५*

शोधच्छात्र

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

लखनऊ परिसर, लखनऊ

---०---

वैशेषिकदर्शनम्

मनीषनारायणमिश्रः

भारतभूमौ दर्शनानां विकासस्य महती परम्परा परिलक्ष्यते। अत्र नव दर्शनानि विकसितानि सन्ति। त्रीणि नास्तिकदर्शनानि– चार्वाकदर्शनम्, जैनदर्शनम् बौद्धदर्शनञ्च। षट् आस्तिकदर्शनानि– १ न्यायदर्शनम् २वैशेषिकदर्शनम् ३ सांख्यदर्शनम् ४ योगदर्शनम् ५ वेदान्तदर्शनम् ६ मीमांसादर्शनम्।

वैशेषिकदर्शनं काणाददर्शनं वा सर्वशास्त्रोपकारकं कथितमस्ति–

काणादं पाणिनीयं सर्वशास्त्रोपकारकम्

अस्य दर्शनस्य सूत्रकारः महर्षिः कणादोऽस्ति। वैशेषिकदर्शनस्य मूलभूतसूत्राणां संख्या ३७० अस्ति, या दशसु अध्यायेषु विभक्ता अस्ति, प्रत्येकमध्याये आह्निकद्वयमस्ति। अस्योपरि 'रावणभाष्यम्' उल्लिखितमस्ति। परञ्च ग्रन्थोऽयमधुना यावत् अप्राप्तोऽस्ति। प्रशस्तपादेन विरचितः'पदार्थधर्मसंग्रहः' अस्य दर्शनस्य मूल्यवान् मौलिकग्रन्थोऽस्ति। ग्रन्थोऽयं 'वैशेषिकभाष्यम्' इति नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति। अस्योपरि अनेकाः टीकाः जाताः १ व्योमशिवाचार्यस्य व्योमवती २ उदयनाचार्यस्य किरणावली(एकादशमी शताब्दी) ३ श्रीधरस्य 'न्याय-कन्दली'(९९१ईसवी) ४ श्रीवत्सस्य 'न्यायलीलावती' ५ वल्लभाचार्यस्य 'न्यायलीलावती' (द्वादशशताब्द्याः अन्तिमः भागः) ६ पद्मनाभमिश्रस्य 'सेतुः' (षोडशशताब्द्याः उत्तरार्धः) ७ शङ्करमिश्रस्य 'कणादरहस्यम्' ८ जगदीशस्य 'सूक्तिः'(अष्टादश शताब्दी)

बौद्धदार्शनिकः वसुबन्धः प्रशस्तपादस्य मतं खण्डयति। वात्स्यायनाचार्यः न्यायभाष्ये प्रशस्तपादस्य सिद्धान्तान् प्रयुनक्ति। अतः प्रशस्तपादस्य समयः द्वितीयशताब्दी समीचीनं प्रतिभाति। प्रशस्तपादभाष्याधारेण विरचितं 'दशपदार्थीशास्त्रम्' (चन्द्रद्वाराप्रणीतम्) पञ्चम्यां शताब्द्यां विरचितम्। परञ्च अस्य प्रसिद्धिः ६०८ ईसवीये कृतेन चीनीभाषायामनुवादेन ज्ञायते। कैश्चित् विद्वद्भिः यथा शिवादित्यमिश्रेण (दशम्यां शताब्द्याम्) न्यायदर्शनस्य वैशेषिकदर्शनस्य च एकीकरणं कृतम्। तस्य'सप्तपदार्थी' अस्मिन् एकीकरणे मान्यः ग्रन्थोऽस्ति। अन्ये विद्वांसः तेषां ग्रन्थाश्च सन्ति– मैथिलविद्वान् शङ्करमिश्रः (पञ्चदशतमी शताब्दी) स्वग्रन्थे 'उपस्कारम्' इति ग्रन्थे कणादसिद्धान्तान् विविनक्ति।[२] विश्वनाथन्यायपञ्चाननस्य (सप्तदशतमी शताब्दी) 'भाषापरिच्छेदः' भाषापरिच्छेदस्य सोपज्ञटीका मुक्तावली[३] अन्नंभट्टस्य तर्कसंग्रहः(सप्तदशतमी शताब्दी उत्तरार्धः)। अयं विद्वान् आन्ध्रप्रदेशे जातः यस्य शिक्षा काश्यां जाता। अनेन'तर्कदीपिका' नाम्नी टीकापि विरचिता।

तत्त्वमीमांसा–वैशेषेकमते प्रत्येकं संज्ञी 'पदार्थः' इति पदेन व्यवह्रियते। पदार्थस्य तात्पर्यमस्ति– पदस्य अर्थः अर्थात् तद्वस्तु यत् केनचित् पदेन प्रकटीभवति। अतः ज्ञेयत्वमभिधेयत्वञ्च पदार्थस्य सामान्यलक्षणमस्ति। नैयायिकमते वर्णितात् पदार्थात् वैशेषिकपदार्थः भिन्नोऽस्ति। न्यायः मूलतः एकतर्कशास्त्रमस्ति यस्मिन् परपक्षखण्डनपूर्वकं स्वमतस्थापनं भवति। अस्य शास्त्रार्थस्य कृते उपयोगिनः वस्तूनि 'पदार्थः' कथ्यते। वैशेषिकदृष्ट्यां जगतः समस्तवस्तूनि पदार्थपदेन व्यवह्रियन्ते। पदार्थः सप्त प्रकारकाः भवन्ति। यत्र षट् भावपदार्थाः सन्ति अन्तिमश्च अभावपदार्थोऽस्ति। १ द्रव्यम् २ गुणः ३ कर्म ४ सामान्यः ५ विशेषः ६ समवायः ७ अभावः।

द्रव्यविचारः- कार्यस्य समवायिकारणं गुणक्रिययोश्च आश्रयभूतः पदार्थः 'द्रव्यम्' कथ्यते। द्रव्यमेव कस्यचित् कार्यस्य उपादानकारणं भवति अर्थात् तस्मात् एव नूतनवस्तुनि जायन्ते। घटस्य उपादानं मृत्तिका पटस्य उपादानं तन्तुरस्ति अत एव उभौ द्रव्यौ स्तः। द्रव्ये गुणः क्रिया च विद्येते। वैशेषिकमते द्रव्यं नवविधं भवति १ पृथिवी २ जलम् ३ तेजः ४ वायुः ५ आकाशः ६ कालः ७ दिक् ८ आत्मा ९ मनः। अत्र प्रथमं पञ्च द्रव्याणि 'भूतानि' कथ्यन्ते। अत्र अनेकगुणानां सत्ता सर्वदा विद्यमाना भवति। पृथिवी रूप-रस-गन्ध-स्पर्शगुणैः युक्तं द्रव्यमस्ति। गन्धः पृथिव्याः विशेषगुणोऽस्ति अर्थात् गन्धः केवलं पृथिव्यां विद्यते। जलम् रूप-रस-स्पर्शगुणैः युक्तं द्रव्यमस्ति, रसः तस्य विशेषः गुणोऽस्ति। तेजः रूपस्पर्शगुणैः युक्तं द्रव्यमस्ति, रूपं तस्य विशेषगुणोऽस्ति। वायुः स्पर्शवान् द्रव्यमस्ति। स्पर्शः तस्य विशेषगुणोऽस्ति। पृथिवी जलस्य तेजसः चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति। वायोः स्पर्शः त्वगेन्द्रियेण गृह्यते। वृक्ष-लतानां पर्णानां कम्पनेन वायुरनुमीयते।

पृथिवी-जल-तेज-वायुद्रव्याणि नित्यानित्यभेदेन द्विविधानि भवन्ति। एतानि चत्वारि द्रव्याणि परमाणुदशायां नित्यानि भवन्ति कार्यरूपे च अनित्यानि भवन्ति। परमाणुः पुनः विभक्तुं न शक्यते अतः अविभाज्यत्वात् परमाणुः नित्यः भवति। कार्यं परमाणुनां समूहेन भवति यत् कदाचित् जायते कदाचिच्च विनश्यति। अतः कार्यमनित्यं भवति।

द्रव्यम् शरीरम इन्द्रियाणि विषयः पृथ्वी मानवानां पशूनाञ्च शरीरम् पृथिव्यां विशेषं गुणं ग्रहणकर्तृकं घ्राणेन्द्रियं यत् नासिकाग्रभागे विद्यते।मृत्तिका प्रस्तरादीनि

जलम् वरुणलोके जलीयशरीराणि भवन्ति जलस्य विशेषं गुणं रसस्य ग्रहणकर्त्री रसना जिरूाग्रे तिष्ठति समुद्रः तडागः नद्यादयः

तेजः आदित्यलोके तैजसशरीराणि विद्यन्ते तेजसः विशेषगुणं रूपस्य ग्रहणकर्त्री चक्षुरस्ति या नेत्रयोः कृष्णपुत्तलिकायां विद्यते भौमम् अर्थात् पृथिव्यां विद्यमानः विषयोऽस्ति अग्निः, दिव्यविषयः-विद्युतादयः यस्य कृते जलमेव ईन्धनरूपं भवति, उदरे विद्यमानं तेजः येन भोजनस्य पाचनं भवति (औदार्यम्), स्वर्ण-रजतादयः खनिजधातवः(आकर्जः)

वायुः वायुलोके विद्यमानम् वायोः विशेषगुणस्य स्पर्शस्य ग्रहणकर्तृकं त्वगस्ति यत् समस्तशरीरे व्याप्तं भवति वृक्षलतादीनां कम्पनस्य हेतुभूतः वायुः, प्राणः

प्राणस्य विषये मतद्वयं दृष्टिगोचरं भवति। प्रशस्तपादेन प्राणः वायोः चतुर्थः प्रकारः स्वीकृतः। न्यायवैशेषिकस्य अन्याचार्यैः प्राणः वायोः विषयरूपेण स्वीकृतः। शरीरस्य अन्तः सञ्चरणकर्तृकः वायुः प्राणः भवति। प्राणस्तु एक एव अस्ति परञ्च क्रियास्थनयोः वैभिन्यात् सः पञ्चविधः भवति।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।

उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।।

क्रियायाः भिन्नता अपि वायौ भवति १ मुखनासिकातः बहिर्गमनात् अन्तप्रवेशत्वात् प्राणः कथ्यते। २ मलादीन् अधःनयनत्वात् अपानः कथ्यते ३ भोजनस्य पाचनाय पाचकाग्निम् उर्ध्वं नयनत्वात् समानः कथ्यते। ४ उद्गार-डङ्कारादीन् ऊर्ध्वं नयनत्वात् प्राणः उदानः कथ्यते।(उर्ध्वं नयनात् उदानः) ५ नाडीषु प्रसरत्वात् प्राणः व्यानः कथ्यते (नाडीमुखेषु वितनात् व्यानः)

पुराणेषु एतेषां प्राणानां नाम क्रिया च भिन्नप्रकारेण उल्लिखिता अस्ति-

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मोन्मीलने मतः।

कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।

आकाशः- शब्दगुणो यस्य सः आकाशः कथ्यते। आकाशे संख्या परिमाणः पृथकत्वं संयोगः विभागः शब्दः एते षड् गुणाः भवन्ति परञ्च शब्द एव अस्य विशेषो गुणोऽस्ति। शब्द एक एव अस्ति, आकाशः अपि एक एव भवति। अस्य परिमाणः परममहत् अस्ति। फलतः परिमाणे आकाशादधिकम् एकमपि वस्तु नास्ति। आकाशः उत्पत्तिविनाशाभावात् नित्योऽस्ति। आकाशः विभुः सर्वत्र व्याप्तोऽस्ति अत एव केनचिदपि इन्द्रियेण अस्य प्रत्यक्षं न भवति अनुमानादेव आकाशसिद्धिः भवति। कारणमिदमस्ति शब्दस्य आधारः कश्चिदपि अवश्यमेव भवति पृथिव्यादयः एतादृशं द्रव्यं भवितुं न शक्यते अतः परिशेषात् आकाशद्रव्यस्य सिद्धिः स्वीक्रियते। शब्दस्य ग्राहकः इन्द्रियं श्रोत्रमस्ति यत् वस्तु कर्णे विद्यमानः आकाश एव अस्ति।

कालः- तुलसीदासः कालिदासात् पश्चात्वर्ती अस्ति, भवभूतेरपेक्षा कालिदासः पूर्वं जातः, देवदत्तः यज्ञदत्तश्च उभौ युगपत् एव दृष्टिगतौ अभवताम्। सः शीघ्रमागतः अपरः बालकः विलम्बेन आगतः। लोके एतादृशानाम् ज्ञानानाम् यत् असाधारणं कारणमस्ति तत् एव वैशेषिकमते कालः कथ्यते। द्रव्याणामुत्पत्तिः विनाशश्च कस्याञ्चित् काले अवश्यमेव भवति, अतः कालः उत्पत्तिविनाशयोरपि कारणमस्ति। कालः वस्तुतः एक एवास्ति परञ्च उपाधिभेदात् क्षणम्, लवः, निमेषः, काष्ठा, अहोरात्रम्, मासः, ऋतुः अयनञ्च आदिभेदात् नानाप्रकारकः भवति। आकाश इव कालोऽपि विभुः महत्परिणामेन युक्तः अमूर्तश्च स्वीक्रियते। अस्मात् कारणात् कालस्य सिद्धिः प्रत्यक्षद्वारा न भूत्वा, अनुमानद्वारा भवति। क्षणं कालस्य लघुतम-परिमाणोऽस्ति।

दिक्- 'काशीतः पटना पूर्वस्यामस्ति, प्रयागः पश्चिमेऽस्ति, मुम्बईनगरतः मद्रासनगरं दक्षिणेऽस्ति, दिल्ली चोत्तरेऽस्ति। अस्य ज्ञानस्य असाधारणं कारणं दिक् कथ्यते अर्थात् दिक्कल्पनातः एव पूर्वोक्तव्यवहारः सिद्धः भवति। दिक्कालयोः मध्ये मुख्यभेदोऽस्ति-कालिकसम्बन्धः एकसमानं स्थिरः भवति परञ्च दैशिकः सम्बन्धः परिवर्तते।

दिशः गुणाः सन्ति-१ संख्या २ परिमाणः ३ पृथकत्वम् ४ संयोगः ५ विभागः। दिगपि विभुः नित्यं परमहदस्ति। दिगपि एकः भवति परञ्च उपाधिभेदात् तद्भिन्नं भवति।

आत्मा-यस्मिन् ज्ञानं जायते, यः ज्ञानस्य समवायिकारणमस्ति सः एव आत्मा अस्ति। अमूर्तत्वात् आत्मनः प्रत्यक्षं न भवति। यद्यपि केषाञ्चित् नैयायिकानां मते आत्मा प्रत्यक्षं भवति परञ्च वैशेषिकमते आत्मनः प्रत्यक्षं न भवति सः अनुमानस्य विषयोऽस्ति। कस्यचित् साधनस्य व्यापारः कर्तारं विना न भवति, इन्द्रियाणि अपि साधनानि भवन्ति एतेषां कर्ता 'आत्मा' एव अस्ति।

सुखदुःख-श्वांस-प्रश्वांस-निमेष-उन्मेषादयः आत्मनः लिङ्गरूपेण ज्ञायन्ते यतो हि एतान् वीक्ष्य एव आत्मनः अस्तित्वं सिद्धं भवति। प्रशस्तपादभाष्यम् आत्मा द्विविधः भवति १ क्षेत्रज्ञः-शरीरमात्रे उत्पन्नज्ञानस्य ज्ञाता अर्थात् जीवः २ सर्वज्ञः-जगति समस्तविषयाणां पदार्थाणां ज्ञाता अर्थात् ईश्वरः। ईश्वरस्य सिद्धिः आगम-वेद-अनुमानप्रमाणैः सुनिश्चिता भवति। श्रुतिः शतशः ईश्वरस्य सिद्धेः दृष्टान्तं प्रस्तौति-'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' आदयः। न्यायकन्दल्यामीश्वरसिद्धिः अनेन प्रकारेण दत्ताऽस्ति।'यत् वस्तु जायते तं कश्चित् चेतनपुरुषः अवश्यमेव जानाति' उत्पत्तिपूर्वमेव कुम्भकारः कुम्भं जानाति। पृथिव्यादयः चत्वारो महाभूताः कार्याणि सन्ति एतेषामुत्पत्तिः भवति, परञ्च एतेषामुत्पत्तिपूर्वं एतेषां ज्ञानं कश्चित् आत्मा करोति यस्मिन् एतत् ज्ञानं विद्यते स एव ईश्वरः परमात्मा अस्ति। घटनानया सूच्यते यत् बाह्येन्द्रियेभ्यः व्यतिरिक्तं किञ्चित् अन्तरिन्द्रियमपि भवति। वस्तुज्ञाने यस्य साहाय्यम् आवश्यकं भवति। वैशेषिकमते मनः अत्यन्तं सूक्ष्मं

द्रव्यमस्ति। प्रत्येकं ज्ञाने मनसः संयोगः आवश्यकः भवति। एकस्मिन् समये एकमेव ज्ञानं भवतीति अनेन सिद्धयति यत् मनः सूक्ष्ममस्ति। यतो हि आकाश इव विभौ सति मनसि एकस्मिन् क्षणे अनेकानि ज्ञानानि सम्भवन्ति। मनः नित्यमस्ति, मनः मूर्तमस्ति, मूर्तत्वं विना क्रिया न भवति। मनसि क्रियाः जायन्ते।

गुणविचारः- वैशेषिकमते गुणः द्रव्ये विद्यते तस्य कश्चिदन्यः गुणः न भवति। गुणः संयोगविभागयोः कारणं न भवति। पूर्ववर्णितद्रव्यात् गुणस्य भेदः सुस्पष्टमस्ति। द्रव्यं स्वयमेव आश्रयरूपेण भवति परञ्च गुणः द्रव्याश्रयं विना न विद्यते। यथा 'मम हस्ते कृष्णा लेखनी अस्ति' अत्र लेखनी स्वयं विद्यते परञ्च तस्य कृष्णत्वं लेखनीं विना भवितुं नार्हति।

वैशेषिकसूत्रेषु गुणानां संख्या सप्तदश अस्ति। १ रूपम् २ रसः ३ गन्धः ४ स्पर्शः ५ संख्या ६ परिमाणः ७ पृथकत्वम् ८ संयोगः ९ विभागः १० परत्वम् ११ अपरत्वम् १२ बुद्धिः १३ सुखम् १४ दुःखम् १५ इच्छा १६ द्वेषः १७ प्रयत्नः। प्रशस्तपादे षट् गुणाः अधिकाः सन्ति- १ गुरुत्वम् २ द्रवत्वम् ३ स्नेहः ४ संस्कारः ५ अदृष्टः ६ शब्दः।

अत्र अदृष्टगुणस्य रूपद्वयमस्ति १ धर्मः २ अधर्मः। अनेन प्रकारेण सर्वे मिलित्वा चतुर्विंशतिः गुणाः सन्ति।

१ चक्षुरिन्द्रियेण ग्राह्यः गुणः 'रूपम्' भवति, रूपस्य प्रत्यक्षीकर्तुं चत्वारि वस्तुनि आवश्यकानि सन्ति १ महत्परिमाणः-यतो हि सूक्ष्मपरमाणुः प्रत्यक्षं न भवति २ रूपं व्यक्तं भूयात्, अव्यक्तरूपस्य ग्रहणं न भवति। ३ रूपं प्रबलगुणान्तरेण अभिभूतं न भूयात्। अभिभूतं गुणं प्रत्यक्षं न भवति यतो हि सामान्यतः अग्नेः वर्णं श्वेतं भवति परञ्च पृथिव्याः अंशानां रूपान्तरेण एतादृशम् अभिभूतं विद्यते यत् तस्य श्वेतत्वं प्रत्यक्षं न भवति। ४ तत्र रूपत्वं जातिः भूयात्। रूपं सप्तधा भवति १ शुक्लम् २ नीलम् ३ पीतम् ४ रक्तम् ५ हरितम् ६ कपिशम् ७ चित्रम्।

प्राचीनग्रन्थेषु रूपभेदः नासीत् अन्नमभट्टस्य तर्कसंग्रहे वर्णितोऽस्ति। कैश्चित् आचार्यैः 'चित्रम्' स्वतन्त्ररूपेण न स्वीक्रियते। रूपं पृथ्वी-जल-तेजसु एव विद्यते। पृथिव्याम् ऊपरि वर्णितानि सप्त रूपाणि विद्यन्ते। जले अभास्वरं श्वेतरूपं वसति तेजसि च भास्वरं शुक्लं रूपं वसति।

२ रसः- रसनेन्द्रियेण ग्राह्यगुणः रसः कथ्यते। सः गुणः षट् प्रकारकः भवति। १ मधुरम् २ अम्लः ३ लवणम् ४ कटुः ५ कषायः ६ तिक्तम्। रसः पृथिव्यां जले च विद्यते। जले केवलं मधुररसः विद्यते। पृथिव्यां षट् रसाः विद्यन्ते।

३ गन्धः- घ्राणेन्द्रियेण ग्राह्यः गुणः 'गन्धः' कथ्यते। गन्धः केवलं पृथिव्यामेव विद्यते। सुगन्धदुर्गन्धभेदेन द्विविधः भवति।

४ स्पर्शः- केवलं त्वगेन्द्रियेण ग्राह्यः गुणः स्पर्शोऽस्ति। स्पर्शः पृथ्वी-जल-तेजस्-वायुषु विद्यते। शीत-उष्ण-अनुष्णशीतभेदेन त्रिधः भवति। शीतस्पर्शः जले विद्यते। उष्णस्पर्शः तेजसि भवति, पृथिव्यां वायौ च अनुष्णशीतस्पर्शः विद्यते।

५ संख्या- 'एकः द्विः त्रयः इत्यादयः व्यवहाराः येन गुणेन भवति सा'संख्या' कथ्यते। संख्या नवसु द्रव्येषु विद्यते अर्थात् संख्या सामान्यगुणोऽस्ति। अर्थात् रूपादयः गुणाः एकस्मिन् द्रव्ये यथा विद्यन्ते तथा ते अपरेषु द्रव्येषु न विद्यन्ते परञ्च सर्वेषु गुणेषु एकादारभ्यः परार्धं यावत् भवति।

६ परिमाणः- मापस्य व्यवहारकारणं 'परिमाणः' अस्ति। परिमाणः नवसु द्रव्येषु प्राप्यन्ते। परिमाणः चतुर्विधः भवति। अणुः महत् दीर्घः हस्वश्च। अत्यन्तसूक्ष्मपरिमाणः 'अणुः' मनसि विद्यते नित्यो चास्ति। अयं पारिमाण्डल्योऽपि कथ्यते।

७ पृथक्त्वम्- अस्य वस्तुनः स्वभावः अपरवस्तुनः

भिन्नमस्तीति बुद्धिः यस्मात् गुणात् जायते 'सः' पृथकत्वमस्ति। पृथकत्वं सर्वेषु द्रव्येषु वसति। पृथकत्वम् अन्योन्याभावस्य च अन्तरं स्पष्टमस्ति। अन्योन्याभावस्य दृष्टान्तमस्ति 'घटः पटः नास्ति' इत्यनेन केवलं निषेधबोधः भवति यत् 'घटः किं नास्ति'। परञ्च पृथकत्वं सत्तात्मकवस्तुनः प्रतीकोऽस्ति। पृथकत्वं कवस्तुनः पृथक् ख-वस्तुनः स्वभावं लक्षणञ्च बोधयति। अन्योन्याभावेन केवलं बुद्धिगतः भेदः भासितो भवति परञ्च पृथकत्वात् वास्तविकः बाह्यभेदः ज्ञायते।

८ संयोगः- पृथक् पृथक् वस्तूनि यदा परस्परं मिलन्ति तदा मिलनमिदं 'संयोगः' कथ्यते। संयोगः सर्वेषु द्रव्येषु प्राप्यन्ते संयोगः कदापि नित्यं न भवति। अस्मात् कारणात् भिन्नद्वयस्य नित्यपदार्थस्य सम्बन्धः संयोगः न भवति।

९ विभागः- संयोगनाशकः गुणः 'विभागः' कथ्यते। केवलं संयोगाभावः 'विभागः' न भवति प्रत्युत् पूर्वमिलितस्य वस्तुद्वयस्य पृथकत्वम् 'विभागः' कथ्यते इदं सर्वेषु द्रव्येषु विद्यन्ते।

१० ११ परत्वमपरत्वञ्च- येन गुणेन अग्रत्वज्ञानं भवति सः गुणः 'परत्वम्' कथ्यते। येन गुणेन पश्चात्वर्तित्वस्य ज्ञानं भवति सः गुणः अपरत्वं कथ्यते। गुणद्वयमिदं पृथ्वी-जल-तेज-वायु-मनःसु विद्यन्ते यतो हि इमे गुणाः परिमितिदेशे विद्यन्ते। नित्यविभुपदार्थेषु परत्वमपरत्वञ्च न विद्यते। एतौ द्विप्रकारकौ भवतः। १ दूरस्थिते वस्तुनि दैशिकं परत्वम् २ समीपे स्थिते वस्तुनि दैशिकमपरत्वं भवति। अनेन प्रकारेण ज्येष्ठे कालकृतपरत्वम्, कनिष्ठे च कालिकमपरत्वं भवति।

१२ बुद्धिः- बुद्धेरर्थोऽस्ति -'ज्ञानम्'। ज्ञानं तु सर्वेषां व्यवहाराणां कारणं भवति, स्मृतिरनुभवभेदेन बुद्धिः द्विधा भवति १ संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं 'स्मृतिः' कथ्यते २ अस्मात् भिन्नं ज्ञानम् 'अनुभवः' कथ्यते।

१३ सुखम्- सर्वेषामनुकूलवेदनीयः गुणः 'सुखम्' कथ्यते अर्थात् यस्य वेदना प्रत्येकमनुकूलं भवतु। न्यायबोधिनीमते 'इतरेच्छाऽनधीनेच्छविषयत्वम्' अर्थात् यं प्राप्तुमिच्छा स्वतन्त्ररूपेण तं प्रति एव भवति तत् 'सुखम्' अस्ति। सुखेच्छा तु केवलं सुखस्य कृते एव भवति अन्यवस्तुनामिच्छा इव सुखेच्छा पराधीना न भवति।

१४-दुःखम्-यस्य ज्ञानं प्रत्येकं प्रति प्रतिकूलं भवति तत् 'दुःखम्' कथ्यते। यस्य द्वेषः स्वरूपेण तेनैव भवति तत् 'दुःखम्' अस्ति।

१५ इच्छा- अप्राप्तवस्तुनः प्रार्थना 'इच्छा' कथ्यते। कामः/ अभिलाषा/ संकल्पः इत्यादयः अस्य अनेके भेदाः सन्ति।

१६ द्वेषः- किञ्चित् वस्तु वीक्ष्य तस्य स्मरणात् वा चित्ते यः क्रोधः भवति सः 'द्वेषः' कथ्यते।

१७ प्रयत्नः- अस्यार्थोऽस्ति 'उत्साहपूर्वकम् कस्यचित् कार्यस्यारम्भः'।

१८ गुरुत्वम्- प्रथमपतनस्य असमवायिकारणं गुरुत्वं कथ्यते अर्थात् यस्मात् कारणात् जलीयपदार्थः पार्थिवपदार्थो वा उपरितः अधः गच्छति तत् 'गुरुत्वम्' कथ्यते। गुरुत्वं पृथिव्यां जले च गुरुत्वं भवति।

१९ द्रवत्वम्- यस्मात् गुणात् वस्तूनां प्रवाहो भवति तत् द्रवत्वं कथ्यते। द्रवत्वं पृथ्वी-जल-तेजःसु वसति। द्रवत्वं द्विविधं भवति १ सांसिद्धिकम् (स्वाभाविकम्) २ नैमित्तिकम् (कारणोत्पन्नम्)। सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले भवति। घृतम् पृथ्वीपदार्थोऽस्ति सुवर्णं रजतञ्च तैजसपदार्थोऽस्ति अग्निसंयोगात् एतयोः द्रवत्वं जायते।

२० स्नेहः-यः चूर्णद्रव्यान् एकपिण्डरूपेण करोति सः स्नेहोऽस्ति। स्नेहः जलस्य विशेषः गुणोऽस्ति।

२१ संस्कारः- संस्कारः त्रिविधः भवति १ वेगः २ भावना ३ स्थितिस्थापकः। अत्र वेगः पञ्चसु मूर्तपदार्थेषु

पृथ्वी-जल-तेज-वायु-मनःसु विद्यते। कस्यचित् वस्तुनः अनुभवात् परम् अनुभवस्य कश्चित् अंशः चित्ते अवशिष्यते यः उचितावसरे तस्य वस्तुनः स्मरणं कारयति सा एव'भावना' कथ्यते। वासना/संस्कारः भावनायाः अपरनाम अस्ति। स्थितिस्थापकः प्रत्यास्थता भवति यस्मात् कारणात् वस्तु पुनः स्वस्थितिं प्राप्नोति।

२२, २३ धर्माधर्मौ- सत्कर्मणा 'धर्मः' असत्कर्मणाः जातः गुणः 'अधर्मः' कथ्यते।

२४ शब्दः-आकाशस्य गुणोऽस्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य प्रत्यक्षं भवति। शब्दः क्षणमात्रमेव तिष्ठति अस्य नाशः तत्स्रोतसः जातेन अपरशब्देन भवति। वर्णध्वनिभेदेन शब्दः द्विविधः भवति।

तृतीयपदार्थः- कर्म- कर्म गुण इव द्रव्ये आश्रितं भवति। कर्म गुणात् भिन्नमस्ति, गुणस्तु द्रव्यस्य सिद्धधर्मोऽस्ति अर्थात् गुणः प्राप्तस्वरूपोऽस्ति परञ्च कर्मस्तु स्वसाध्यावस्थायां भवति यस्य अन्तिमं रूपम् अधुना निश्चितं नास्ति। कर्मणः पञ्च भेदाः सन्ति १ उत्क्षेपणम् २ अवक्षेपणम् ३ आकुञ्चनम् ४ प्रसारणम् ५ गमनम्। कर्मणः कारणानि सन्ति १ नोदनम् २ गुरुत्वम् ३ वेगः ४ प्रयत्नः। श्वांस-प्रश्वांसयोरपि प्रयत्नकारणात् वायोः गमनागमनं भवति।

चतुर्थः पदार्थः सामान्यः- यस्मात् कारणात् अनेकेषु वस्तुषु एकत्वं सिद्धयति सः'सामान्यः' अस्ति। यथा शतं मनुष्याः व्यक्तित्वकारणात् भिन्नाः सन्ति परञ्च तेषु मनुष्यत्वकारणात्'एकत्वम्' अपि अस्ति अतः'एकत्वम्' सामान्यः जातिः वा अस्ति। सामान्यः नित्यः अनेकेषु अनुगतो भवति। मनुष्यत्वं नित्यं तथा च प्रत्येकं मनुष्ये व्याप्तं भवति। जातिः त्रिविधा भवति १ परसामान्यः- सर्वाधिकव्यक्तिषु प्राप्ता जातिः यथा सत्ता यां व्यतिरिच्य अन्या काचित् जातिः न भवति। २ अपरसामान्यः-न्यूनतमेषु व्यक्तिषु व्याप्ताः जातिः।३ परापरसामान्यः- उभयसामान्ययोः मध्ये विद्यमाना जातिः परापरसामान्यः कथ्यते यथा मनुष्यत्वजातिः सत्ताजातेः अपरा परञ्च ब्राह्मणत्वात् अधिकत्वात् परा अपि अस्ति। जातिः द्रव्य-गुण-कर्मसु एतेषु पदार्थेषु एव भवति।

विशेषपदार्थः- विशेषकल्पना सामान्यकल्पनातः पृथक् अस्ति एकश्रेण्याः समानगुणानां व्यक्तीनां पारस्परिकभेदकः पदार्थः विशेषोऽस्ति। यथा घटद्वयमध्ये एकः घटः अपरघटात् पृथक् भवति।

समवायः-नित्यसम्बन्धः समवायः कथ्यते। यदा वस्तुद्वयं कदापि पृथक् न प्राप्यते तदा तयोः सम्बन्धः अयुतसिद्धिः समवायः वा कथ्यते। संयोगसम्बन्धेन संयुताः पदार्थाः कदाचित् पृथक् अपि प्राप्यते। 'हस्ते लेखनीमादाय लिखामि' अत्र लेखनीहस्तयोः सम्बन्धः संयोगः अस्ति परञ्च तन्तुपटयोः तथाविधः नास्ति तन्तुनाशे सति पटनाशः स्वयमेव भवति अतः तन्तुपटयोः नित्यसम्बन्धः समवायः कथ्यते। सम्बन्धोऽयम् अवयव-अवयवीमध्ये भवति यदा तन्तुवस्त्रयोः सम्बन्धः। गुणगुणीमध्ये यथा जलशैत्ययोः सम्बन्धः। क्रियाक्रियावान्मध्ये यथा गतिवायवोः सम्बन्धः, जातिव्यक्तयोः यथा गोत्त्वस्य गोव्यक्तेश्च सम्बन्धः, ५ विशेषनित्यद्रव्यमध्ये सम्बन्धः परमाणु-आकाशादिमध्ये सम्बन्धः। समवायस्य कल्पना न्यायवैशेषिकस्य मौलिककल्पना अस्ति, अन्यदर्शनेषु अस्य खण्डनं कृतमस्ति।

अभावः- भावात् विपरीतः पदार्थः 'अभावः' कथ्यते। अयं प्रथमदृष्ट्या द्विविधः भवति १ संसर्गाभावः २ अन्योन्याभावः। प्रथमः वस्तुद्वयमध्ये जायमानस्य संसर्गस्य निषेधं प्रकटयति। अन्योन्याभावस्य अर्थोऽस्ति-परस्पराभावः एकं वस्तुं द्वितीयवस्तु नास्ति यथा घटः पटः नास्ति। संसर्गाभावस्य प्रकारत्रयं भवति १ प्राग्भावः २ प्रध्वंसाभावः ३ अत्यन्ताभावः।

वैशेषिकानां ज्ञानमीमांसा-वैशेषिकमते ज्ञानमीमांसा न्यायदर्शनमनुकरोति परञ्च वैशेषिकमते केवलं प्रमाणद्वयमेव

विद्यते १ प्रत्यक्षम् २ अनुमानञ्च। वैशेषिकजनः परमाणुवादं पुष्णाति अर्थात् परमाणुभ्यः पदार्थाः जायन्ते। द्वि-अणुकः, त्रयाणुकः , बहु-अणुकः अनेन प्रकारेण सूक्ष्मात् स्थूलस्योत्पत्तिः भवति। वैशेषिकमतस्य परमाणुवादः शब्दानित्यवादः वेदान्तमते मीमांसामते वेदविरुद्धोऽस्ति। अस्मात् कारणात् कुमारिलभट्टेन 'नास्तिकः' शङ्कराचार्येण 'उर्ध्व-वैनाशिकः' कथितः परञ्च प्रशस्तपादेन महेश्वरः नमस्कृतः, अपितु सृष्टिकर्ता अपि कथितः। अतः प्रशस्तपादः नैयायिकानामिव आस्तिकः प्रतीयते।

वैशेषिकदर्शनस्य आचारशास्त्रमपि अस्ति। स्वसूत्राणामारम्भे एव तेन धर्मः व्याख्यातः। धर्मविचारं वनिता तत्त्वज्ञानोदयः न भवति। धर्मस्य लक्षणमस्ति- 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' येन अभ्युदयस्य मोक्षस्य वा सिद्धिः स्यात् सः धर्मः अस्ति। उदयनाचार्यस्य मते अभ्युदयस्य अर्थोऽस्ति 'तत्त्वज्ञानम्' निःश्रेयसार्थोऽस्ति 'मोक्षः'। अनेन प्रकारेण धर्मेण तत्त्वज्ञानं मोक्षञ्चोपलभ्यते। काम्यकर्मभ्यः निवृत्तिः, नित्यकर्मणामनुष्ठानं वेदविहित-कर्मणामनुष्ठानञ्च धर्मः कथ्यते। तत्त्वज्ञानं किमस्ति पदार्थाणां साधर्म्यज्ञानेन वैधर्म्यज्ञानेन च तत्त्वज्ञानं जायते। केचित् धर्माः अनेकेषु पदार्थेषु समानरूपेण लभ्यन्ते, ते साधर्म्यम् कथ्यन्ते, केचित् धर्माः केवलम् एकस्मिन्नेव पदार्थे लभ्यन्ते ते 'वैधर्म्यम्' कथ्यन्ते। एतेषां ज्ञानेन तत्त्वज्ञानं जायते तत्त्वज्ञानेन च मोक्षः सम्भवति। वैशेषिकमते 'मुक्तिः' नैयायिकानां मुक्तिरिव अस्ति तत्र दुःखानाम् आत्यन्तिकनिवृत्तिः भवति। मुक्तदशायां समस्तदुःखानि सर्वथैव निवर्तन्ते तेषां पुनरभ्यदयः न भवति। मोक्षे सुखस्य आनन्दस्य वा सत्ता न भवति। एतस्मात् साम्यात् वैशेषिकदर्शनं न्यायदर्शनञ्च समानं मन्यते।

शोधच्छात्र

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(प्राक्तन - राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्)

गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः

❑❑

लघुत्रयी ग्रन्थ रघुवंशम् में योगदर्शन की महत्ता

डॉ० वशिष्ठ सिंह कुशवाहा

आत्मोन्नति के साधन के रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद् , स्मृति, पुराण सभी में योगाभ्यास की चर्चा है। साधारणतः'योग' शब्द सम्बन्धवाचक है किन्तु योगशास्त्र में चित्तवृत्तिनिरोध रूप में योग समाधिवाचक है।

योग और सांख्य समानान्तर दर्शन कहे जाते हैं। योग-दर्शन का तत्ववाद वही है, जो सांख्य-दर्शन का है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य-दर्शन के कुछ सम्प्रदाय निरीश्वरवादी हैं, पर योग दर्शन पूर्णरूप से ईश्वरवादी है। योग-दर्शन के मूल-प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं जिन्होंने योग-सूत्र का प्रणयन किया है।

'पतञ्जलियोगदर्शन' समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार अध्यायों में विभक्त है। समाधिवाद में योग के अङ्ग उनका परिणाम तथा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के प्रकार का विवेचन है। कैवल्यवाद में-मोक्ष का निरूपण है।

आत्मा और जगत् के विषय में सांख्य-दर्शन के जिन सिद्धान्तों को निरूपित किया गया है, योग-दर्शन भी उसी का समर्थक है। सांख्यकार के मतानुसार योगाकार भी पच्चीस तत्वों को स्वीकार करते हैं। योग-दर्शन में 'पुरुष-विशेष' छब्बीसवें तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है।

योग शब्द 'युज' धातु से निष्पन्न होता है। 'युज्यतेऽसौयोगः' अर्थात् जो युक्त करे या मिलाए, उसे योग कहते हैं। योग-दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योगस्समाधि' कहकर योग को समाधि बतलाया है। जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि के द्वारा सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्मा का साक्षात्कार करे। चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए आत्मा का साक्षात्कार करना योग का लक्षण है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहकर महर्षि पतञ्जलि ने चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।

जिस दशा में मन के सहित ही पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ संयम के द्वारा स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती हैं, उस दशा का नाम योग है और यही परमगति का आश्रय होने से 'परमगति' है।

योग-दर्शन के अनुसार संसार दुःखमय है। जीवात्मा की मोक्षोपलब्धि के लिए एक मात्र उपाय योग है। ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है। देवगण और ऋषिगण को योग में ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। योगदर्शन का दूसरा नाम कर्मयोग भी है, क्योंकि साधक को मुक्ति के लिए समुचित कर्म का पथ-प्रदर्शक भी योग ही है।

महाकवि कालिदास पूर्णरूप से ईश्वरवादी हैं। वे अपने महाकाव्य में योग के लक्षण, साधन एवं उद्देश्य का अवान्तर रूप से निरूपण करते हैं। योग के अंग, योग की साधन की प्रक्रिया का निर्देश और मोक्ष के विषय में भी संकेत करते हैं। साथ ही साथ ध्यान, धारण और समाधि की भी बात वे करते हैं। आत्मा और जगत् के विषय में सांख्य और योग-दर्शन एक ही सिद्धान्त के अनुयायी हैं। कालिदास अपने महाकाव्य में योग के सम्बन्ध में बहुत सी चर्चाएँ करते हैं। महाकवि कालिदास योग को लोक-प्रचलित प्रकार से व्यवहृत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास पतंजलि के योग-सूत्र में आये हुए

शब्दों से भलीभाँति परिचित थे। कालिदास ने योग शब्द का प्रयोग अधिकता से किया है–

कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के प्रथम सर्ग के आठवें पद्य में 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' और

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्' (१/७४)

'अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् 'ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।" (१०/२३)

'वीरासनैर्ध्यान–जुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः, निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढ़ा इव शखिनोऽपि' (१३/५२), 'जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां' (१४/७२), 'योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते' (१६/७), 'महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा, तस्मात् संयोगादधिगम्य यागमजन्मनेऽकल्पत जन्म भीरूः।।" (१८/३३)

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में प्रयुक्त अधिकाशतः शब्दों का प्रयोग कालिदास करते हैं। कालिदास के उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" को स्वीकार किया जा सकता है। वे अपने कथनों में योग के स्वरूप को स्पष्ट भी करते हैं।

कालिदास योग या मोक्ष प्राप्ति और परमात्मा के साथ एकाकार होने के लिए आत्म–चिन्तन का उल्लेख करते हैं। यथा–

"अभ्यासनिग्रहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।।"

(रघु० १०/२३)

अर्थात् योगी लोग अभ्यास के द्वारा वश में किये गये मन से अपने हृदय में ज्योतिःस्वरूप आपको ही मुक्ति के लिए ध्यान करते हैं।

और भी–

"महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ
मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य यागं
अजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरूः।।

(रघु० १८/३३)

कालिदास निम्नलिखित पद्य में योग–क्रिया का अभ्यास और परमात्मा से आत्म साक्षात्कार की बात करते हैं–

"न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेनवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ।।"

(रघु० ८/२२)

अर्थात् जिस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा वाले अज भी किसी भी काम को उठाकर उसे तब तक नहीं छोड़ते थे, जब–तक पूरा नहीं हो जाता था, उसी प्रकार स्थिर चित्त वाले रघु ने भी तब तक योग क्रिया नहीं छोड़ी, जब तक उन्हें परमत्मा का दर्शन नहीं हो गया। यहाँ पर भी कालिदास अवान्तर रूप से'योगश्चितवृत्ति–निरोधः' की भी बता कर रहे हैं, क्योंकि योग क्रिया के लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक बताया गया है। ये चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास से ही संभव हैं कालिदास रघु को योग के माध्यम से ही आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार की बात कर रहे हैं।

कालिदास अधोलिखित श्लोक में'योगस्समाधिः' की बात और मोक्ष की बात करते हैं–

"अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।।

(रघु० ८/२४)

अर्थात् समदर्शनः रघु अर्थात् सबको समान समझने वाले रघु ने अज के कहने से कुछ वर्ष संसार में व्यतीत किए फिर योग के बल से सदा प्रकाशमान अविनाशी परमात्मा में वे लीन हो गये।

प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ के शब्दों में योग-विधि यानी चिन्तन का अभ्यास या निराकार का ध्यान है।'मन में परमात्मा' में लीन आत्मा का अनुभव करना।

महर्षि पतञ्जलि योग की परिभाषा'चित्त की वृत्तियों पर निरोध' अर्थात् रोक लगाना ऐसा कहते हैं-

''योगश्चितवृत्तिनिरोधः।''(योगसू०१/२)

योग के आठ अङ्गों को वे इस प्रकार बताते हैं-

यमनियमासन-प्राणायाम प्रत्याहार धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। (यो० सू० २/२९)

महाकवि कालिदास इनमें आन्तरिक ध्यान, धारणा और समाधि का उल्लेख रेखांकित प्रकार से करते हैं - ध्यान 'प्रत्यैकतानता ध्यानम्।' यो० सू० - ३/२)

''वीरासनैर्ध्यान-जुषामृषीणाम-
मी समध्यासित-वेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति
योगाधिरूढ़ा इव शाखिनोऽपि।।''

(रघु० १३/५२)

अर्थात् इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानों वे भी योग साध रहे हों।

धारणा-

''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''

(यो०सू०-३/१)

नृपतिः प्रकृतीर वेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्।।

(रघु० ८-१८)

अर्थात् इधर राजा अज तो जनता के कामों की देखभाल करने के लिए न्याय के आसन पर बैठते थे उधर रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए अकेले में कुशा के पवित्र आसन पर बैठते थे।

समाधि अन्तिम अवस्था है, जिसमें मन और इन्द्रियों की क्रियायें पूर्णतः बन्द हो जाती हैं। ध्येता सारे वाह्य जगत के ज्ञान से रहित होकर आत्म-लीन हो जाता है। इसका प्रणिधान शब्द से भी बोध किया जाता है। महाकवि कालिदास के निम्नलिखित पद्य इस संदर्भ में द्रष्टव्य है-

सोऽपश्यत् प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत।।

(रघु० १/७४)

वशिष्ठ ने अपने योग के बल से ध्यान किया कि पवित्र आत्मा वाले राजा के पुत्र क्यों नहीं हुआ और ध्यान कर चुकने पर वे राजा को समझाने लगे।

अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरूतः पञ्च शरीरगोचरान्।।

(रघु० ८/१९)

'इधर अज ने तो अपने प्रभुत्व और अपनी शक्ति से आस-पास के शत्रु राजाओं को वश में कर लिया था और उधर रघु ने अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले (प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान इन) पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया।

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच।।

(रघु० १४/७१)

इसके उपरान्त ही योगी प्रकृति के तीन गुणों पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। मिट्टी और सुवर्ण के मूल्य के भेद के ज्ञान से शून्य हो जाता है और स्थिर धी कि अवस्था प्राप्त कर लेता है। स्थिर धी योगी की वह अवस्था है जब वह पूर्ण मानसिक एकान्तता प्राप्त कर लेता है। महाकवि कालिदास के अधोलिखित पद्य इस संदर्भ में अवलोकनीय है–

''षणबन्धमुखान्गुणानजः षड्डुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः।।''

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेनवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात्।।

(रघु० ८/२१, २२)

अर्थात् एक ओर अज (संधि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन) छः नीतियों का परिणाम समझकर प्रयोग करते थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना दोनों को बराबर समझने वाले रघु ने भी प्रकृति के सत्व, रज और तम इन गुणों को जीत लिया था।

जैसे दृढ़ प्रतिज्ञा वाले अज भी किसी काम को उठाकर उसे तब–तक नहीं छोड़ते थे जब–तक वह पूरा नहीं हो जाता था वैसे ही स्थिर चित्त वाले रघु ने भी तब–तब योग–क्रिया नहीं छोड़ी जब–तक उन्हें परमात्मा का दर्शन नहीं हो गया।

महाकवि कालिदास योग में जिस स्थिर धी की स्थिति की बात कर रहे हैं इसे श्रीमद्भागवत गीता में विवेचित स्थित प्रज्ञ ही समझना चाहिए। उसका हृदय विपत्तियों में विचलित नहीं होता, उसके सुख की कामना नहीं और प्रीति, भय तथा क्रोध उससे दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण शांति की अवस्था है यथा–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थित धीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।

(गी० २/५४)

अर्जुन बोले– हे केशव! समाधिस्थ मनुष्य का क्या लक्षण है? स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है?

इस श्लोक में अर्जुन, श्रीकृष्ण से सिद्धयोगी के लक्षण पूछते हैं। जिनका मन समाधि में स्थित है, वह स्थिर बुद्धि मनुष्य का कैसे आचरणों वाला होता है। यही अर्जुन जानना चाहते हैं, प्रज्ञा बुद्धि को कहते हैं। धी का भी अर्थ है–बुद्धि। इस प्रकार धी और प्रज्ञ का एक ही अर्थ है। जिसकी बुद्धि परमात्मा में स्थित हो, वही स्थित प्रज्ञ, स्थित धी, अथवा स्थिर बुद्धि कहा जाता है। अब श्री भगवान् स्थितप्रज्ञ योगी के विषय में विस्तार से वर्णन कर रहे हैं–

''प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

(गीता २/५५)

श्री भगवान् बोले – हे अर्जुन ! जब यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस समय आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

यहाँ पर कामना का अर्थ –भोग सम्बन्धी इच्छा से है। कामना अभाव का द्योतक है। जब–तक मन में कामना रहेगी, तब–तक मनुष्य अपने को अपूर्ण अथवा अतृप्त समझता है। कामनाओं के त्याग देने से मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है। उस समय अन्तः करण में परमात्मा से प्राप्त होने वाला अक्षय आनंद प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, मन से कामनाओं के हटते ही परमानंद प्रकट होता है। यह परमानंद प्रकृति के विकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध पर निर्भर नहीं करता है। यह अन्तःकरण में बिना किसी भी सहायता से प्रवाहित होता है। इसलिए श्री भगवान कहते हैं कि योगी अपने आप में संतुष्ट रहता है।

अब श्री भगवान् कहते हैं कि स्थित प्रज्ञ योगी काम, क्रोध भय और लोभ से मुक्त होता है।

दुःखेष्वनुद्विग्रमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

(गीता -२/५६)

अर्थात् दुःखों के प्राप्त होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों के प्राप्त होने पर जिसके मन में तृष्णा नहीं होती, जिसके राग, भय और क्रोध बीत गये हैं-ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

चित्त की व्याकुलता को उद्वेग कहा जाता है। निरन्तर बढ़ती हुई इच्छा को स्पृहा अथवा तृष्णा कहा जाता है। जो दुःख से व्याकुल न हो और सुख में आसक्त न हो तथा आसक्ति, भय और क्रोध को जीतने वाला हो, उसे स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। सांसारिक पदार्थों में जो लगाव होता है, उसे राग या असाक्ति कहते हैं। राग मन को रंग देता है। सुख-दुःख द्वन्द्व का उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि योगी द्वन्द्व रहित होता हे। उसके मन में काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, ईर्ष्या, तृष्णा और आसक्ति इत्यादि सम्पूर्ण दुर्गुणों का अभाव हो जाता है। अब श्री भगवान् कहते हैं कि स्थित प्रज्ञ योगी राग-द्वेष से मुक्त होते हैं-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गीता- २/५७)

अर्थात् जो सर्वत्र स्नेह रहित होकर उस-उस शुभ या अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

महाकवि कालिदास योगासन प्रक्रिया का निर्देश करते हैं। ध्यान करते समय तपस्वी लोग वीरासन लगाया करते हैं।

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिश्कम्पतया विभान्ति योगाधिरुढा इव शाखिनोऽपि।।

(रघु० १३/५२)

इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी, लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानों वे भी योग साध रहे हों।

श्रीमद्भागवद्गीता में भी इस मुद्रा को आवश्यक समझा गया है-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

(गीता- ६/१३)

भाव यह है कि शुद्ध भूमि पर बने हुए अपने आसन पर बैठकर ध्यान करते समय धड़-गला और सिरच्ये तीनों एक सीध में रखना चाहिए। ये तीनों एक सीध में होने पर इनको इधर-उधर हिलाना नहीं चाहिए। इन तीनों को एक सीध में रखकर पूरे शरीर को स्थिर रखना चाहिए। कोई भी अंग अनावश्यक रूप से हिलाना नहीं चाहिए। यही स्थिर अवस्था है। आसन पर बैठकर चारों दिशाओं में किसी ओर नहीं देखना चाहिए। अपनी आँखें खुली रखकर दृष्टि को अपनी नाक के अग्रभाग पर केन्द्रित करना चाहिए। ध्यान की यह प्रारम्भिक अवस्था है। आँखें बन्द करके ध्यान करने पर नींद आने का डर रहता है। ध्यान करते समय मन प्रसन्न होना चाहिए। चित्त में शीघ्रता का भाव नहीं होना चाहिए। ध्यान करते समय निश्चिन्त होकर बैठना चाहिए।

महाकवि कालिदास वीरासन मुद्रा में बैठे हुए की पाँच प्रकार के वायु (पंचमारुत) उनके (रघु के) शरीर में रुद्ध थे। जिस प्रकार जल से भरा बादल या शान्त-सरोवर। यथा-

अनयतप्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान्।।

(रघु० ८/१९)

अर्थात् उन्होंने अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले (प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान इन पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया था।

महाकवि कालिदास प्राणायाम विधी का उल्लेख ईषद् विस्तार के साथ श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ सा है–

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत।।

(रघु० ३/२४)

द्रष्टव्य गीता–

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्धवा प्राणायामपरायणाः।।

(गी० ४/२९)

अर्थात् अन्य योगीजन अपान वायु में प्राण वायु का हवन करते हैं, उसी प्रकार अन्य योगी प्राणवायु में अपान वायु का हवन करते हैं। अन्य योगी प्राणवायु और अपानवायु को रोक कर प्राणायाम करते हैं। इस प्रकार पूरक प्राणायाम करना ही अपानवायु में प्राणवायु का हवन है। रेचक प्राणायाम प्राणवायु में अपानवायु का हवन है। प्राणवायु और अपानवायु को रोक देना प्राणायाम है।

और भी–

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।

(गी० ६/११)

अर्थात् शुद्ध भूमि पर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछाकर ऐसा ास्थिर आसन बनाना चाहिए जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्जयाद्योगमात्मविशुद्धये।।

(गी० ६/१२)

अर्थात् उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, मन को एकाग्र करके अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करें।

महाकवि कालिदास का अधोलिखित पद्य योगनिद्रामें सोये हुए विष्णु की अवस्था के निरूपण की दृष्टि से ध्यातव्य है–

नाभिप्ररूढ़ाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते।।

(रघु० १३/६)

इस प्रकार विष्णु योग निद्रा में सोये हुए माने जाते हैं। ध्यानावस्था या समाधि की यह निद्रा मर्त्यों की साधारण नींद से भिन्न है। इसमें सब प्रकार की चेतना का अभाव हो जाता है और इसलिए यह मृत्यु की एक अवस्था है। यह योग की निद्रा जिसमें चेतना तथा स्मरणशक्ति विद्यमान रहती है और जिसमें सोने वाला अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा भिन्न-भिन्न युगों के व्यक्तियों के सम्पर्क का सुख अनुभव करता है-जिसमें वस्तुतः सामान्य अवस्था और ज्ञान की सीमा अलग कर दी जाती है। यह पुरुष की एक स्थिति है जो सबका अभ्यासी है, अर्थात् ध्यानगत् विश्रान्ति प्रत्येक चतुर्युगी के अन्त में वह ब्रह्माण्ड को प्रलय में लीन कर विश्राम लेता है और उसकी नाभि से निकले कमल पर बैठे आदिस्रष्टा उसकी स्तुति करते रहते हैं।

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।।''

(रघु० १०/२३)

अर्थात् योगी लोग सदा प्राणायाम आदि से मन को वश में करके मुक्ति पाने के लिए अपने हृदयों में बैठे हुए आपके ही ज्योति स्वरूप की खोज किया करते हैं।

कालिदास ने उसी योग-साधना-मार्ग का वर्णन किया है, जिसका प्रतिपादन गीता में है। जो अनन्त पुरुष लोक-लोकान्तरों का अधिष्ठाता हैं, वही हमारे आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित है। गीता में जिसे अक्षर कहा है (अक्षरं ब्रह्म परमं, गी० ८/३) उसमें और हृदय-देश में स्थित आत्मेश्वर में कोई भेद नहीं। इस प्रकार गीता का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कालिदास को मान्य है-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयतेः।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।

(गी० १३/१, २)

(हे अर्जुन इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र को जो जानता है, उसे इस शास्त्र को जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा ज्ञान माना गया है। इस प्रकार गीता के अक्षर, क्षेत्रज्ञ, तद्विद आदि शब्द कालिदास के भी हैं।

कालिदास ने रेखांकित पद्य में योगी की उस विशिष्ट अवस्था का निरूपण करते हैं, जिसको दिव्य-शक्तियाँ देने वाली मानी गयी हैं। ऐसा माना जाता है कि योगबल को रखने वाला बन्द दरवाजे के भी भीतर प्रवेश कर सकता है-

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
विभर्षि चाकारमनिवृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्।।''

(रघु० १६/७)

अर्थात् तुम हमारे इस बन्द भवन से घुम तो आयी हो, पर तुम्हारे मुख से यह प्रकट नहीं होता कि तुम योगिनी हों क्योंकि तुम पाले से मारी हुई कमलिनी के समान बड़ी उदास दिखाई दे रही हो। इस प्रकार की योग की सिद्धियों का पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र-२ (विभूतिपाद) में किया है।

समाधि या योग ने, जिसके लिए इन्द्रियों के कार्य को नितान्त निर्जीव बना देना आवश्यक था, योगी के लिए स्वभावतया वन के एक एकान्त कोने में स्थान खोजना अनिवार्य कर दिया। अतः तपोभूमि एक आवश्यक संस्था बन गई, जहाँ वीरासन में समाधि लगाने वाले तपस्वियों की वेदिकाओं के बीच खड़े वन के वृक्ष वहाँ के एकान्त निर्वात वातावरण के कारण समाधिस्थ प्रतीत होते हैं।

वीरसनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढ़ा इव शाखिनोऽपि।।

(रघु० १३/५२)

और भी

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः।
भृग्वादीननुगृहन्तं सौखशायनिकानृषीन्।।

(रघु० १०/१४)

अर्थात् योग-निद्रा में उठकर वे अपनी स्वच्छ और पवित्र चितवन में उन भृगु आदि ऋषियों को अनुग्रहीत कर रहे थे, जो उनसे पूछ रहे थे- भगवन् आप सुख से तो सोये हैं।

योग का समाधि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के अर्थ में

व्यवहार होता है। इस संदर्भ में कालिदास की अधोलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं।

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योग विधेनवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात्।।

(रघु० ८/२२)

अर्थात् स्थिर चित्त वाले रघु ने योग क्रिया तब-तक नहीं छोड़ी जब-तक उन्हें परमात्मा का दर्शन नहीं हो गया।

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।।

(रघु० ८/२४)

अर्थात् सबको समान समझने वाले रघु ने अज के कहने से कुछ वर्ष संसार में और बिताए। तत्पश्चात् योग-बल से सदा प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मा में लीन हो गये।

यह योग का समाधि के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सन्दर्भ भगवद्गीता (४/१, २, ६) में विकसित योग दर्शन से सम्बन्धित नहीं मालूम होता है, जहा योग'कर्मसु कौशलम' कहा गया है-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।

(गी० २/५०)

अर्थात् कर्मयोगी पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देते हैं। इसलिए तुम समत्वयोग से युक्त हो जाओ। कर्मों में कुशलता ही योग है।

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों में यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदास योगशास्त्र के सम्यक् ज्ञाता थे कवि ने योगशास्त्र के जिस ज्ञान को अपने महाकाव्य में वर्णित किया है, यह उनकी योगशास्त्र की दक्षता का ही परिचायक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रम	ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
१.	रघुवंशमहाकाव्यम्	डॉ० कृष्णमणि त्रिपाठी	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
२.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा प्रकाशन, वाराणसी।
३.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
४.	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी रामनारायण	विजय कुमार, कटरा रोड, इलाहाबाद
५.	भारतीय दर्शन	डॉ० बद्री प्रसाद सिंह	स्टूडेण्ट्स फेण्डस एंड कं० हिन्दू विश्वविद्यालय, लंका वाराणसी, षष्ठ संस्करण १९८४
६.	भारतीय दर्शन	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, गणेश दीक्षित लेन बनारस, चतुर्थ संस्करण, १९४९

❑❑

वेदान्त में अध्यास विचार और शंकराचार्य

रविशंकर

प्रस्तावना

औपनिषदिक दर्शन का चरम प्रतिपाद्य है – ब्रह्म और आत्म की एकता। शंकराचार्य ने इस मूल प्रतिपाद्य के रूप में प्रतिस्थापित किया। लेकिन इसके लिए वे एकमात्र श्रुतियों का सहारा नहीं लेते बल्कि सत् के स्वरूप के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। उनके अनुसार सत् वह है जिस की सत्ता कालों में अबाधित बनी रहे (त्रिकाला बाधित्वं) सत् तथा असत् वह है जिसकी कभी भी प्रतीति न हो अर्थात् जो तीनों कालों में बाधित रहे।

अध्यास सिद्धान्त शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की तार्किक कुञ्जी है। शंकाराचार्य का कथन है कि शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा और प्रपञ्चात्मक जगत तथा शरीर प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले है और उनके गुण भी परस्पर विरूद्ध हैं इनके गुणों का परस्पर आरोप नहीं होना चाहिए, किन्तु लोक व्यवहार में हमें इनमें तादात्म्य दिखाई देता है अर्थात् चैतन्य रूप आत्मा में विषय रूप जगत् और उसके धर्मों और 'यह मेरा है' – ऐसा लोक व्यवहार अनादि काल से चला आ रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक व्यवहार सत्य और असत्य के मिथुनीकरण पर निर्भर है। आत्म और अनात्म का यह तादात्म्य 'अध्यास' मिथ्या है।

शंकाराचार्य ने अध्याय के तीन लक्षण दिए हौ, जिनमें कोई तात्विक भेद नहीं है। प्रथम लक्षण के अनुसार 'अध्यास स्मृतिरूप पत्रपूर्वदृष्टावमास है'। (अध्यासो नाम स्मृति रूप परत्रपूर्वदृष्टावभासः)। अध्यास अवभास' है अर्थात् निरास योग्य आभास है। जो अभी भासित हो रहा है बाधित हो जाएगा। यह अबभास 'पूर्वदृष्ट' का हौ अर्थात् उस वस्तु का है जो पूर्वकाल में देखी गई थी। किन्तु अभी नहीं है। यह अवभास 'स्मृतिरूप' है अर्थात् सृमृति तो नहीं है किन्तु स्मृति के समान रूप वाला है अर्थात् जिस प्रकार स्मृति संस्कार जन्य है, उसी प्रकार यह अवभास भी संस्कार जन्य है। यह अवभास 'परत्र' हैं अर्थात् अपने अधिकरण में है जो यहाँ इस समय उपस्थित है।

इस लक्षण के अनवसार अध्यास के तीन घटक होते है –

१.वह वस्तु जो यहाँ इस समय उपस्थित है (परत्र) और शत हौ। यह वस्तु भ्रम का अधिष्ठान है। जैसे – रज्जु या शुक्ति।

२.वह वस्तु जिसका पूर्वकाल में प्रत्यक्ष था (पूर्वदृष्ट) और जो अपने स्वरूप में भले ही सत् है। किन्तु , किन्तु सम्प्रति उपस्थित न होने से असत् हौ। यह वस्तु अध्यस्त है अर्थात् इसका अध्यास अधिष्ठान पर किया जाता है। जैसे – सर्प या रजत। यह स्मृति नहीं है (स्मृति रूप)

३.आरोप या तदात्म्य की क्रिया अर्थात् अध्यस्त वस्तु का उपस्थित अधिष्ठान आरोप किया जाना। जब ये तीनों घटक होंगे तभी अध्यास या भ्रम होगा।

अध्यास ते द्वितीय लक्षण के अनुसार –

"अध्यास किसी अन्य वस्तु (अधिष्ठान) का अन्य (अध्यस्त) के धर्म के रूप में अवोभासित होना है") (अन्यस्य अन्य धर्माव भासता)। प्रत्येक वस्तु में द्रव्यांश धर्मांश दोनों होते है। एक वस्तु के 'दृव्य' पर अन्य वस्तु के 'धर्म' को आपोपित करना अध्यास है।

अध्यास का तृतीय लक्षण है –

''अध्यास अतत् में तदबुद्धि है'' (अतस्मिन तद्बुद्धिः)। अर्थात् अध्यास किसी एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में ज्ञान है।

अध्यास मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है। यह असत् का सत् पर आरोप है। यह सत् और असत् का, सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। असत् सत् के रूप में प्रतीत होता है और बाद में अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित हो जाता है। अध्यस्त पदार्थ स्वरूप से ही मिथ्य है। वह सत् नहीं है क्योंकि वह अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित हो जाता है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि भ्रमदशा में उसकी प्रतीति होती है। अतः वह अनिर्वचनीय या सद सद विलक्षण है।

अध्यास के दो भेद होते है –

स्वरूपाध्यास एवं संसर्गाध्यास।

चिदात्म रूप अधिष्ठान ब्रह्म में यह प्रपञ्चात्मक जगत् स्वरूपतः अध्यस्त है अर्थात् ब्रह्म में जगत् का अध्यास स्वरूपाध्यास है। पुनः चिदात्मा ब्रह्म का प्रपञ्चात्मक जगत् के साथ संसर्गाध्यास है। क्योंकि श्रुतियों से ब्रह्म का संसर्ग मात्र ही बाधित होता है।

शंकराचार्य के अनुसार अध्यास का कारण अविद्या है। अविद्या के कारण ही अधिष्ठान में अध्यस्त वस्तु का आरोप होता है। अध्यास के अविद्या जन्य होने के कारण अध्यस्त के गुण–दोष का अणुमात्र भी प्रभाव अधिष्ठान पर नहीं पड़ता।

प्रश्न उठता है कि अध्यास में किसी प्रत्यक्ष विषय में अध्यस्त पदार्थ का आरोप होता है। लेकिन आत्मा विषय नहीं है। अतः उसमें अनात्म पदार्थो का अध्यास कैसे होता है? शंकराचार्य कहते है कि यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है कि किसी प्रत्यक्ष विषय में ही अध्यस्त पदार्थ का आरोप हो। अप्रत्यक्ष पदार्थ में भी आरोप संभव है। अज्ञानी लोग अप्रत्यक्ष आकाश में भी मलिनता आदि का आरोप करते है। पुनः`क अर्थ में आत्मा अहं प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि प्रत्यगात्मा का ज्ञान अपरोक्ष है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा विषयी न होकर विषय है। अतः उस पर अनात्म विषयो का आरोप अस्वाभाविक नहीं है।

प्रपञ्चात्मक जगत् के साथ संसर्गाध्यास है। क्योंकि श्रुतियों से ब्रह्म का संसर्ग मात्र ही बाधित होता है।

शंकाराचार्य के अनुसार अध्यास का कारण अविद्या है। अविद्या के कारण ही अधिष्ठान में अध्यस्त वस्तु का आरोप होता है। अध्यास के अविद्या जन्य होने के कारण अध्यस्त के गुण–दोष का अणुमात्र बी प्रभाव अधिष्ठान पर नहीं पड़ता।

प्रश्न उठता है कि अध्यास में किसी प्रत्यक्ष विषय में अध्यस्त पदार्थ का आरोप होता है। लेकिन आत्मा विषय नहीं है। अतः उसमें अनात्म पदार्थो का अध्यास कैसे होता है ? शंकराचार्य कहते है कि यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है कि किसी प्रत्यक्ष विषय में ही अध्यस्त पदार्थ का आरोप हो।

अप्रत्यत पदार्थ में भी आरोप संभव है। अज्ञानी लोग अप्रत्यक्ष आकाश में भी मलिनता आदि का आरोप करते है। पुनः एक अर्थ में आत्मा अहं प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि प्रत्यगात्मा का ज्ञान अपरोक्ष है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा विष्त्यी न होकर विषय है. अतः उस पर अनात्म विषयों का आरोप अस्वाभाविक नहीं है।

कोई वस्तु या तो सत् होती है या असत। सत् और असत् के परे 'अनिर्वचनीय' शब्द भ्रामक है। शंकर वे एक ओर भ्रम को अनिर्वचनीय कहा है तथा दूसरी ओर इसे परिभाषित किया है।

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाएं शंकराचार्य के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से न समझ पाने के कारण एकाङ्की प्रतीत होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. भारतीय दर्शन – डॉ. बलदेवोपाध्याय।

२. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगमलाल पाण्डेय।

३. भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन – डॉ. सी. डी. शर्मा।

४. वेदान्तीय तत्त्व मीमांसा – डॉ. के. एल. शर्मा।

५. भारतीयदर्शन – डॉ. एच. पी. सिन्हा

प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक (स. शि.)

सीताराम सिंह इण्टर कालेज

बाबूगंज, प्रयागराज

❑❑

ग्रामीण विकास योजनाओं का एक अध्ययन

राकेश कुमार यादव

हमारा देश भारत गाँवों का देश रहा है यहॉ आधी से अधिक आवादी गाँवों में बसती है। भारत के सर्वागींण विकास के उद्देश्य को पुरा करने के लिये गाँवों तक विकास पहुँचाना बहुत आवश्यक है। इसी उद्देश्य को मद्देनजर रखते हुए, आजादी के पूर्व व बाद में ग्रामीण विकास की योजनाएं बनती रहीं हैं । महात्मा गॉधी जी ने कहा था कि भारत की आत्मा गाँवों में वसती है और ग्रामीण विकास के वगैर भारत के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। लेखक ने कुछ गाँवों के सर्वेक्षण द्वारा ग्रामीण विकास योजनाओं का एक धरातलीय अध्ययन किया है जो निम्न प्रकार है –

स्वच्छ भारत मिशन – इस मिशन के सभी गाँवों को खुले में शौंच से मुक्ति का प्रयास किया गया है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण योजना है। अक्सर हम देखा करते थे कि गाँवों की गरीब महिलायें अपना मुँह ढककर सड़क के किनारे बैठ जाया करती थीं। भारतीय संस्कृति की रक्षक वर्तमान सरकार ने गरीबों की इज्जत को बचाये रखने के लिये इस योजना की शुरूआत की जिससे वंचित वर्ग के महिलाओं की इज्जत सुरक्षा के साथ शारीरिक सुरक्षा भी प्रदान की जा सके। लेखक ने विभिन्न गाँवों में शौंचालय मात्र डिब्बे के समान है और कुछ का तो सिर्फ कागज निर्मित शौंचालय ही है। गाजीपुर जनपद के भावरकोल ब्लाक के गाँव टोडरपुर में तो शौंचालय बने ही नहीं थे। इसी प्रकार मनियॉ, मिर्जाबाद, वीरपुर पलिया आदि के गांवों के अध्ययन में पाया गया कि शौंचालय तो बने हैं किन्तु मनिया और मिर्जाबाद को छोडकर समस्त गाँवों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी फिर भी अधिकांश जगह शौंचालय निर्मित पाये गये। इसमें सरकार को चाहिये कि एक सुनिश्चित जवाबदेही की जाय जिससे कि भारत के महापुरुषों की सोच अन्त्योदय की अवधारणा सार्थक हो सके। गाँव, गरीब, किसान, मजदूर को उचित लाभ प्रदान किया जा सके।

गोवर्धन योजना – इस योजना की शुरूआत केन्द्र सरकार की बजट २०१८–१९ में की गई। मानव जीवन पर पड़ने वाले यूरिया व अन्य कीटनाशकों के दुरूप्रभावों को कम किया जा सके लोगों को कम्पोस्ट खाद, गोबर गैस बनाने सिखाना इत्यादि को समाहित किया गया था। इस योजना का धरातलीय सर्वेक्षण करने पर लेखक ने पाया कि आमजन में कीटनाशक व यूरिया के दुष्प्रभावों की जानकारी तो थी लेकिन आपसी प्रतिस्पर्धा जिससे अधिक अन्न उत्पादन के लिये प्रयोग किया जा सके। फिर भी नवीन पीढी इस पर विशेष ध्यान दे रही है जिससे मानव शरीर पर कीटनाशक व अन्य उर्वरकों के प्रभाव को कम किया जा सके। इस तरह वर्तमान सरकार के प्रति आम लोगों में स्नेह का भाव देखने को मिला।

प्रधानमन्त्री ग्राम सडक योजना – इस योजना की शुरूआत २५ दिसम्बर २००० को किया गया था। वर्तमान सरकार भी ग्रामीण विकास में सडक सम्पर्क मार्ग की उपादेयता को समझते हुए विशेष महत्व दे रही है। मैने सवर्पेक्षण में पाया कि सम्पर्क मार्ग से जुडे गाँव अपनी कृषि उपज, साग सब्जी को आसानी से बाजार तक पहुँचाते हैं तथा उचित लाभ कमाते हैं इसी प्रकार बीमारी में, प्रसव अवस्था में, स्कूल जाने में या कहें कि सभी सुविधाओं की उपलब्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। सरकरी सुविधाएं आसानी से गाँवों तक पहुँचायी

जा रही है।

मनरेगा (महात्मा गॉधी राष्ट्रीय रोजगार योजना) - ग्रामीण वेरोजगार भूख व गरीबी से छुटकारा पाने के लिए इस योजना की शुरूआत की गयी थी इससे गाँव की सडकों का निर्माण करना, मजदूरों को १०० दिन की रोजी-रोटी देना सम्मिलित है। लेखक ने कुछ गाँवों के सर्वेक्षण में पाया कि कोराना काल में प्रत्येक सम्पर्क मार्गों पर किसी न किसी रूप से कार्य हुआ है। कुछ मजदूरों ने बताया कि ग्राम प्रधान खाते में पैसा डालकर पुनः अपने लोगों द्वारा वापिस ले लिया जाता है वहीं कुछ की शिकायत थी कि जिसने काम किया उनके खाते में पैसा नहीं आया है लेकिन जो काम नहीं किये उनके खाते में पैसा आ गया। मैंने पूछा कि ऐसा क्यों तो उन्होंने बताया कि ग्राम प्रधान वगैर काम किये लोगों को ५०० रूपये देकर समस्त धन आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार सरकार की महत्वपूर्ण योजना को कुछ लोग चूना लगा रहें हैं। यह सही है कि अधिकांश ग्राम प्रधान धरातल पर भी कार्य करा रहे हैं । आवश्यकता इसकी है कि निगरानी को सख्त किया जाय जिससे धरातल पर योजनायें उतारी जा सके।

प्रधानमन्त्री जन-धन योजना - वित्तीय समावेशन की यह योजना प्रत्येक व्यक्ति को लाभ पहुँचाने के लिये शुरू की गयी थी जिससे लाभार्थी को विचौलियों से मुक्त किया जा सके यह योजना लगभग अपने उद्देश्य को पूरा कर रही है।

विभिन्न सामाजिक पेंशन योजना- इस योजना में पेंशन सम्बन्धित अनेक योजनायें हैं। ये योजनाये सीधे-२ लाभार्थी को प्राप्त होती है इनके निमित्त कुछ भ्रष्टाचार देखने को मिला फिर भी लाभार्थी को ये योजनाएं लाभ पहुँचा रही हैं।

प्रधानमन्त्री ग्रामीण आवास योजना - इस योजना को २३ मार्च २०१६ को शुरू की गई इसके तहत व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता रोटी, कपडा और मकान में मकान की पूर्ति करना था। समाज के शोषित, वंचित तपके को रहने के लिए घर उपलब्ध कराना है। इस योजना के तहत सर्वेक्षण में पाया गया कि मुसहर समुदाय के प्रत्येक परिवार को आवास उपलब्ध था या निर्माणाधीन है। भले ही उसमें गुणवत्ता हो या न हो पता करने पर मालूम चला कि कुछ परिवार अपने पास से कुछ धन लगाकर अच्छे तरह से मकान का निर्माण किये हुये हैं। दलित वस्तियों में उपलब्ध मकानों की स्थिति के सर्वेक्षण पर पता चला कि कुछ को तो पता ही नहीं था कि उनकों आवास मिला है, ग्राम प्रधान को पता चला कि लेखक सर्वेक्षण कर रहा है तो उसने तुरन्त ईंट व कुछ अन्य सामान लाकर निर्माण कार्य प्रारम्भ करा दिया। अनेक गाँवों के विकास के निमित्त इस योजना का धरातलीय अध्ययन के दौरान यह लेखक ने देखा कि अधिकांश लोग आवास के प्रति इच्छुक थे उनको बताया गया कि २०२० तक सभी को सरकार आवास देने के लिये प्रतिवद्ध है। आमजन में प्रधान के प्रति गुस्सा तथा मोदी के प्रेमभाव देखने को मिला। भले ही ग्रामीण विकास के लिए ऊपर से (सरकार) धन न आया हो लेकिन आम जन कहता मिला कि 'मोदिया तो देत है इ सब खाई जात हैं'।

वैसे तो ग्रामीण विकास की अनेक योजनाएं सरकार द्वारा क्रियान्वित की जा रही हैं लेकिन धरातल पर सबसे ज्यादा उपयुक्त योजनायें ही दिखती हैं। कोरोना काल में सभी गरीबों को निःशुल्क राशन उपलब्ध कराया गया जिससे भूख से मौत व अन्य विमारियों से सुरक्षा प्रदान की जा सके।

आयुष्मान योजना- यह योजना दीनदयाल उपाध्याय जी के अन्त्योदय योजना के तहत प्रत्येक व्यक्ति को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने के लिए शुरू की

गई है अधिकांश गरीबों को इससे आच्छादित किया जा रहा है। व्यक्ति का जीवन अनमोल होता है गरीब आदमी दवाई में अपना सब कुछ लुटा देता है। घर, खेत, मवेशी यहॉ तक कि अपने को भी गिरवी रख देता है। यह योजना बहुत ही सही है इसको लेकर गाँव, गरीब सभी प्रसन्न दिखे, लेकिन लोगों का कहना था कि भ्रष्टाचार से इसमें निजात मिलनी चाहिए।

किसान मान धन योजना – यह योजना भी अपने धरातल पर पूर्ण रूपेण सफल दिखती है । खेती के साथ मिलने वाला धन गाँव, गरीब, किसान की इज्जत ढकने का भी काम करता है। बहुत से लोगों ने बताया कि इससे हमारे बच्चों की फीस, किताब, ड्रेस आदि भी हम लोग खरीद लेते हैं। खेती में समय से खाद पानी भी डाल देते हैं। यह किसान विकास के साथ–२ गरीबों व असहायों के विकास में भी योगदान दे रही है। इस योजना में भूमिहीन जो कि बटाई में कृषि कार्य करते हैं उनकों भी सम्मिलित कर लिया जाय तो यह योजना और भी अधिक सार्थक सिद्ध हो सकती है।

ग्रामीण विकास की अनेक योजनायें संचालित हैं जो प्रत्यक्ष रूप से इसमें योगदान कर रही हैं। गाँव में गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, अस्पृश्यता, रूढ़िवादिता और परम्परावादिता को जड़ से समाप्त करना है तो भारतीय संस्कृति के प्रेरक मूल्यों को अपनाकर विकास की मुख्य धारा से जोडा जा सकता है। अगर अलगाववादी तत्वों का समावेश होता होता है तो संघर्ष, राग, द्वेष साम्प्रदायिकता जैसी भावना प्रबल होगी। भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिता व जजमानी व्यवस्था जिसमें प्रत्येक समाज एक दूसरे से आत्मीय व व्यावसायिक रूप से आवद्ध था पर जोर देना होगा। भारतीय संस्कृति की विशेषता ही रही है कि गाँवों में भूख से मौतें नहीं के बराबर हैं। ग्रामीण जनों में चाचा, ताऊ, दादा, दादी व अनेक रिस्ते प्रत्येक समाज को एकता के सूत्र में पिरोते हैं। यही ब्यवस्था हमारे यहॉ दास प्रथा जैसी विकृति व रेड इण्डियन तथा माओ, मारी जैसी स्थिति नहीं आने दी। ''वसुधैव कुटुम्बकम'' की अवधारणा को अपनाकर गाँव, गरीब, मजदूर, किसान सभी को विकास के पथ पर लाया जा सकता है।

पी०जी०टी० अर्थशास्त्र

गिरिवर + २ उच्च विद्यालय

मेदनीपुर पलामू

(झारखण्ड)

❑❑

वैदिककालीन भारतीय राजनीतिक दशा

सुनील कुमार दुबे

किसी भी सभ्यता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन में राजनीतिक तत्त्वों का उद्‌भव एवं विकास सहज एवं स्वाभाविक होता है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में समन्वय की भावना राजनीतिक तत्वों को भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्यायित करती है। कोई भी चिंतन एवं सिद्धांत तभी गतिशील और प्राणवान रह सकता है- जब उसके चिंतन का आधार गौरवशाली अतीत रहा हो। चूंकि कोई भी राजनीतिक चिंतन अपने आप में पूर्ण और निरपेक्ष नहीं हो सकता है, अतः प्राचीन भारतीय राजनीतिक दशा में तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों का ध्यान रखना आवश्यक है।

वैदिककालीन राजनीतिक दशा एवं शासन सम्बन्धी तत्त्वों का परिज्ञान वेदों के सम्यक् अनुशीलन से होता है। ऋग्वैदिक आर्य कई जनों में विभक्त थे। इनमें से प्रमुख पाँच जनों के नाम अक्सर मिलते हैं जिन्हें पंचजन्य के नाम से भी संबोधित किया गया है। ये पाँच जन हैं- अनु, द्रुह्य , यदु, पुरु और तुर्वस। प्रत्येक जन का आधिपत्य राजा के हाथ में होता था राजा ही सत्ता का केन्द्रबिन्दु होता था ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवों ने विचार किया था कि राजा से रहित होने के कारण हमलोग असुरों से पराजित हो रहें हैं। अतः एक बलिष्ठ एवं तेजस्वी व्यक्ति को राजा बनाया जाय और उन्होंने इन्द्र को अपना राजा बनाया। इस प्रकार राजनीतिक स्थिति के बारें में दो तथ्य निगमित होते हैं-

१. राजपद निर्वाचन का विषय था।

२. राजा की उत्पत्ति युद्धकाल में हुई है।

तत्कालीन राजनैतिक संगठन की सबसे छोटी इकाई कुल अथवा परिवार को माना जाता था। परिवार का मुखिया पिता अथवा बड़ा भाई होता था। मुखिया को'कुलप' कहा जाता था। ग्राम इन्हीं परिवारों अथवा कुलों से मिलकर बनता था। ग्राम प्रायः सभी मामलों में आत्मनिर्भर होते थे। इनकी सुरक्षा के लिए ऊँची टीलों पर एक दुर्ग का निर्माण किया जाता था जिसे'पुर' कहा जाता था। आपातकाल में गाँव के लोग इन्हीं पुरों में शरण लेते थे। ग्राम का भी एक मुखिया होता था जिसे'ग्रामणी' कहा जाता था। यह नागरिक तथा सैनिक दायित्वों का निर्वहन करता था। गाँव के ऊपर एक संस्था'विश' होती थी जिसमें कई ग्राम समूह समाहित होते थे। इनका मुखिया'विशपित' कह लाता था, अनेक विशों को मिलाकर 'जन' का निर्माण होता था जन के मुखिया को जनपति या राजा कहा जाता था। वेदों में राज्य के लिये'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख मिलता है। आर्यों के राष्ट्र परस्पर युद्धरत रहते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर दस राजाओं के युद्ध का उल्लेख हुआ है जो भरतों के राजा सुदास के साथ हुआ था। सुदास के पुरोहित वशिष्ठ थे। इनके दस राजाओं का एक संघ था जिसमें उपर्युक्त पाँच जनों के अतिरिक्त पांच लघु जनजातियां- अनिल, पक्थ ,भलानस, शिव तथा विषाणिन- के राजा सम्मिलित थे। ऋषि विश्वामित्र इस संघ के पुरोहित थे। यह युद्ध पश्चिमोत्तर प्रदेश में बसे हुए पूर्वकालीन जन तथा ब्रह्मवैवर्त के उत्तरकालीन आर्यों के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर लड़ा गया था। इसमें भरत जन के स्वामी सुदास ने रावी नदी के तट पर एक भीषण युद्ध में दस राजाओं के इस संघ को परास्त किया और इस प्रकार वह ऋग्वैदिक कालीन भारत का सर्वोपरि सम्राट बन गया। भरत जन ने नाम पर ही हमारे देश का नाम'भारत' पड़ा। वह ऋग्वैदिक

काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जन था जो सरस्वती तथा यमुना नदियों के बीच के प्रदेश में निवास करता था।१

वैदिककाल में राजतंत्र का प्रचलन था किन्तु राजा का चुनाव भी होता था। समिति में एकत्र होने वाली प्रजा के द्वारा राजा को चुना जाता था और विश्वास किया जाता था कि वह अपने पद के साथ न्याय करेगा। कर्त्तव्य से च्युत होने पर राजा को उसके पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता था। दोषों के स्वीकार करने पर वह पुनः राजा बन सकता था। अथर्ववेद में राजा के पुनः पदस्थापन का निर्देश स्पष्ट रूप से मिलता है–

त्वां विशो वृणता राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।

राजा को जन का रक्षक तथा दुर्गो का भेदन करने वाला कहा गया है– वह स्वयं युद्धों में जन का नेतृत्व करता था। सम्राट शब्द का उल्लेख एवं'विश्वस्य भुवनस्य राजा' अर्थात् सम्पूर्ण संसार का राजा की मान्यता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजा का पद अत्यंत प्रतिष्ठित माना जाने लगा था। वह भव्य एवं विशाल राजप्रसाद में रहता था जिसे सहस्त्र द्वारों वाले गृह तथा सहस्त्र स्तंभों वाला सभा स्थान कहा गया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि राजा का चुनाव प्रजा के द्वारा होता था, किन्तु आगे चल कर यह पद आनुवांशिक हो गया। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य राष्ट्र की रक्षा करना था। राजा अभिषेक के अवसर पर अपने प्रजा के सामने पूरी श्रद्धा के साथ प्रतिज्ञा करता है कि जिस रात को मैं पैदा हुआ तथा जिस रात को मैं मरुँगा – इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैंने किये हैं –

उनसे तथा स्वर्गलोक, अपने जीवन, अपनी संतान से वंचित हो जाऊँ यदि मैं तुमसे द्रोह करुँ अर्थात् पीड़ित करुँ। २. इस उद्घोषणा के बदले प्रजा राजा को'बलि' अर्थात उपहार देती थी। अपने जन के लोगों से उसे राजा स्वेच्छा से प्राप्त करता था किन्तु विजित जातियों से यह अनिवार्य रूप से लिया जाता था। ऋग्वैदिक युग में राजा भूमि का स्वामी नहीं था अपितु वह युद्ध का नेता होता था और व्यक्तिगत रूप से उसमें भाग लेता था।

राजा पूर्णरूपेण निरंकुश शासनकर्ता नहीं होता था अपितु उसके नियंत्रण के लिए सभा और समिति नामक दो संस्थाएँ होती थी। ऋग्वेद में सभा का उल्लेख मिलता है। संभवतः सभा कुलीन अथवा वृद्ध लोगों की एक संस्था थी जिसमें उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति ही भाग ले सकते थे। सायण भाष्य के अनुसार सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर पहुँचते थे वह सबके लिए अनुलंघनीय होता था। सभा में सभासदों के बीच किसी विशेष प्रश्न के ऊपर स्वतंत्रतापूर्वक विवाद होता था तथा निर्णीत सिद्धांत सबके लिए मान्य तथा अनिवार्य होता था। शुक्ल यजुर्वेद में पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गई है'सभेयो युवाम्''।[३]

इसमें जनों के सभी व्यक्ति अथवा परिवारों के प्रमुख भाग ले सकते थे। राजा के अभिषेक के लिए भी इनकी सम्मति आवश्यक समझी जाती थी समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमान रूप में किया गया है– ''राजा न सत्यः समिती रियानः''।[४]

सभा और समितियाँ दोनों ही राजनीतिक संगठन थे, दोनों ही जनता के द्वारा चुनी गई संस्थाएँ थी। सभा और समिति दोनों को प्रजापिता की पुत्रियाँ कहा गया है– ''सभा च सा समितिः च आवतां प्रजापतेः दुहतरौ संविदाने।''[५] इस प्रकार सभा तथा समिति के बीच परस्पर मतैक्य पर बल दिया जाता था जिससे राजा को किसी भी प्रकार के निर्णय लेने पर असुविधा का सामना न करना पड़े।

ऋग्वेद में राजा, सभा और समिति के अतिरिक्त

पुरोहित सेनानी तथा ग्रामीण नामक अधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है। पुरोहित राजा का सबसे निकटतम मित्र होता था। शिक्षक, पथ-प्रदर्शक तथा मित्र के रूप में वह राजा का सबसे घनिष्ठ होता था। उनका प्रभाव शासन पर होता था। युद्ध के समय पुरोहित राजा के साथ रहता था तथा राजा की विजय के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। न्याय-वितरण के कार्यों में राजा लोग पुरोहितों की सहायता लेते थे। ऋग्वेद में वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख प्राप्त होता है। सैनिक लोग राजा के आदेश से युद्ध में भाग लेते थे। शान्ति के समय सेनानी नागरिक कार्यों को भी करता था। ग्रामणी प्रशासनिक और सैनिक कार्यों का नेता होता था। इसके अतिरिक्त गुप्तचर एवं दूत नामक कर्मचारियों का भी पता चलता है।

ऋग्वेद में शासन की दो पद्धतियों -'स्वाराज्य' और 'वैराज्य' का उल्लेख मिलता है। स्वाराज्य वह शासन है जिसमें कोई भी व्यक्ति समान व्यक्तियों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करता है। वैराज्य का अर्थ है - राजा से रहित से देश। फलतः यह एक विशिष्ट प्रजातंत्रीय शासन पद्वति थी जिसमें राजा का नितांत अभाव था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वैराज्य की निंदा की है क्योंकि इसमें कोई भी अपने को राज्य के लिए उत्तरदायी नहीं समझता।[६]

इस प्रकार प्रत्येक देश और काल में शासन सम्बन्धी चिंतन का उद्भव एवं विकास तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति को उजागर करता है। वैदिककालीन भारतीय राजनीतिक दशा प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित राजतंत्र का सफल उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसमें राजा सर्वोच्च होते हुए भी अपने पद के उत्तरदायित्वों से बँधा हुआ है। प्रजा भी राजा के निर्वाचन की अधिकारिणी होने के वावजूद अपने कर्त्तव्यों की डोरी से बँधी हुई है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भी अधिकार एवं कर्तव्य का मंजुल समन्वय मानवीय गरिमा के अभिवर्द्धन में सहकारी सिद्ध हो रहा है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:-

(१) प्राचीन भारत की संस्कृति - डा. के. सी. श्रीवास्तव

(२) वैदिक साहित्य और संस्कृति- आ. बलदेव उपाध्याय

(३) भारत की राजव्यवस्था - लक्ष्मीकांत

(४) संस्कृत साहित्य का इतिहास - डा. वाचस्पति गैरोला

(५) सुभाषित सप्तशती- डा. मंगलदेव शास्त्री

(६) यद्वा पत्रिका हिन्दू राष्ट्रनीति विशेषांक वर्ष - २०१९

सहायक अध्यापक (सामाजिक विज्ञान)

परास्नातक-राजनीति विज्ञान सीताराम सिंह इण्टर कालेज,

बाबूगंज, प्रयागराज,

❑❑

'संस्कृतलघुनाट्यचयः' में संकलित महिला नाटककारों के नाटकों में वर्णित सौन्दर्य-तत्त्व

पूजा सिंह

साहित्य में सौन्दर्य शब्द इन्द्रियजन्यसुख का वाचक न होकर स्वयं में एक व्यापक अर्थ धारण करता है। सौन्दर्य की प्रतीति इन्द्रियों को होती है परन्तु उसकी प्रतिक्रिया भावनात्मक होती है। विश्व की प्रत्येक स्थिति और वस्तु मनुष्य के मन में कुछ संवेदनाएँ ओर भावनाएँ निर्मित करती हैं। जिन गुणों के कारण हमारी ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ प्रभावित होती हैं और हमारी भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं, उन्हीं को सौन्दर्य कहते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य का सम्बन्ध ऐन्द्रिय संवेदनाओं और भावनाओं से है।

सौन्दर्य Aesthetics का पर्याय है, यह ग्रीक शब्द से निकला है। पाश्चात्य साहित्यक चिन्तकों की देन होने के कारण इस शब्द Aesthika का सर्वप्रथम प्रयोग १७६० ई. में जर्मन विद्वान् द्वारा किया गया है। इन्होंने इसे जगत् की सुन्दरता, स्वभाव अवस्थाओं और नियमानुकूलता का ज्ञान कहा है तथा संक्षेप में इसे संवेदनात्मक अनुभूति का विज्ञान माना है। पाश्चात्य विद्वान हीगल ने भी इसे ललित कला का दर्शन कहा है। भारतीय मनीषियों की दृष्टियों में भी इसे ललित कला का विज्ञान और दर्शन माना जाता है, क्योंकि यह ही अपने संवेदनात्मक रूप द्धारा चिरन्तन आनन्द की अनुभूति कराता है। अतः यह कहा जा सकता है कि संवेदनात्मक आनन्द प्रदान करने वाला तत्त्व ही सौन्दर्य है।

सौन्दर्य की यह दृष्टि यद्यपि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय को आच्छादित किये है तथापि सहज सहृदय संवेद्य होने के कारण नाट्य वाङ्मय का स्थान सर्वोपरि है प्राचीन नाटकों में अधिकांशतः नायक- नायिकादि सौन्दर्य, प्रणय, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की प्रधानता थी, किन्तु आधुनिक संस्कृत रूपकों में इसके साथ-साथ सहृदयों को वर्तमान में रखते हुए पात्रों की संवेदनाओं से जोड़ देने वाली एक अन्य धारा का विकास हुआ है। इसी धारा में श्रीकृष्ण सेमवाल द्वारा 'सम्पादित संस्कृतलघुनाट्यचयः' में ३१ नाटक संकलित हैं। इनमें से ७ नाटक महिला साहित्यकारों द्वारा रचित हैं- प्रश्नचिह्नम्-डॉ. आभा झा, निदानम् -डॉ. मीरा द्विवेदी, दीपकः कुलदीपकः- डॉ. उर्वी, पर्यावरण-चैतन्यम् -डॉ. अंजुबाला, क्षम्यताम् अध्यापक ! -डॉ. लता विग, जीवन्भद्राणि पश्यति -डॉ. राजकुमारी त्रिखा तथा देशभक्तों बाजिः- श्रीमती सविता दाश। प्रस्तुत नाटकों के माध्यम से नारी जीवन, छात्र जीवन पर्यावरण तथा आतंकवाद की समस्याओं और राष्ट्रिय चेतना की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित किया गया है।

डॉ. आभा झा की नाट्यकृति 'प्रश्नचिह्नम्' में नारी जीवन में विवाह सम्बन्धी रुढ़िवादिता का उल्लेख किया गया है। छात्रावास में रहकर अध्ययन करने वाली नायिका प्रज्ञा को परीक्षा समीप होने पर भी विवाह हेतु परिचय कराने के लिए गाँव आने को विवश कर दिया जाता है।

प्रज्ञा के विरोध करने पर माता द्वारा इसे परम्परा बताकर उसे शान्त करा दिया गया- पुत्रि! अस्माकं समाजे कन्यापक्षः एव विवाहाय आतुरो भवति, अतएव प्रयासः अपि स एव करोति।..... इयं तु परम्परा अस्ति सर्वदैव वरः एव कन्यां पश्यति, निरीक्षते स्वीकृतिमस्वीकृतिं वा ददाति, तदैव विवाहः भवति। भारतीय संस्कारों से बंधी प्रज्ञा माता-पिता की इच्छानुसार प्रकाश से विवाह कर

लेती है. और प्रकाश के छोड़कर चले जाने पर प्रज्ञा ही उसके माता-पिता तथा पुत्र प्रांजल का पालन पोषण करती है। अन्त में समाज और प्रांजल के प्रश्नों से व्याकुल प्रज्ञा सभी पर प्रश्नचिह्न लगाती ''..... **न जाने विदेशं गत्वा जनाः स्वदेशं कथं विस्मरन्ति ? अत्रत्याः पुनः विदेशीयैः सह कन्यायाः विवाहं किमर्थं कुर्वन्त ? पितरौ आत्मानौ अपराधिनौ मन्येते, श्वशुरश्चापि लज्जित एव दृश्यते, पर कस्य वास्तवः दोष? दोष? मदीयस्य भाग्यस्य? दोषः कन्यायाः अभिभावकस्य? वरस्य अभिभावकस्य ? यूनां चिन्तनस्य?** इस प्रकार ५ दृश्यों के प्रस्तुत नाटक में सहृदय आरम्भ से अन्त तक प्रज्ञा की संवेदनाओं का अनुभव करते हैं और यह विचार करने पर विवश हो जाते हैं कि आधुनिक पढ़े- लिखे समाज में भी स्त्रियों की स्थिति और स्वतन्त्रता क्या है-

पुरुषजननी हन्त नारी पुरुषपादकवताडिता
साम्यकामा ज्ञानदीप्तौ हा प्रभापूजाहता!
योषितो नु महानसे गुणकामनां दहतस्वकम्
जन्म वो दास्याय केवलमस्ति धातुः सम्मतम्।।''

डॉ. मीरा द्विवेदी की नाट्यकृति 'निदानम्' में भी स्त्रियों की स्थिति को रूपायित किया गया है, किन्तु इसमें आतंकी गतिविधियों से त्रस्त कशमीरी समाज की पृष्ठभूमि है।[५] दृश्यों में विभक्त प्रस्तुत नाटक के आरम्भ में ही नटी का कथन नारी- दुर्दशा को सूचित करता है- '**किं वेदयम्? एकतः काश्मीरस्य प्रत्नानां नारीणां गौरवमपरिमितं साहसं स्मारं स्मारं लोमहर्षो मयि जायते, आपरतोऽद्यतनीयानां नारीणां दुर्दशां दशं दर्शं भृशं दूयते मे चेतः** ! आतंकवादी गाँव के मौलवी के साथ मिलकर सैन्य-बलों से अपनी रक्षा हेतु गाँव की स्त्रियों से बलात् विवाह करते हैं। इसकी भुक्तभोगी अमीना भी स्त्रियों की दुरवस्था को उद्घाटित करती है- '**भगिनी सत्यं कथयति। अस्माकं ग्राम एव काश्चन नार्यो बलात्कारेण भुक्ताः, काश्चन धर्मायुद्धस्याजिरे व्यभिचारेण दूषितः, काश्चन चातंकदावानले पतिभिः वियुक्ता।**' जहां फरीदा और रेहाता जैसी स्त्रियाँ आतंकी संगठनों में सम्मिलित होकर समाज में भय उत्पन्न करती हैं। वहीं रजिया करीना और शकीला जैसी समाजसुधारिकाएँ स्थिति को सुधारने में सदैव तत्पर रहती हैं। इन्हीं के प्रयासों और अमीना के साहस से ही आतंकवादी और मौलवी बन्दी बनाये जाते हैं तथा नाटक के अन्त में निर्भय और सुखी समाज की स्थापना की आशा संचारित होती है-

नारीजनानां जागृत्या काश्मीरेषु शनैः शनैः
आशारश्मयो जृम्भायमाना इव प्रतिभान्ति।

डॉ. उर्वी द्वारा रचित 'दीपकः कुलदीपक : डॉ. लता विग द्वारा रचित 'क्षम्यताम् अध्यापक!' तथा डॉ. राजकुमारी त्रिखा द्वारा रचित 'जीवन्भद्राणि पश्यन्ति'- इन तीनों नाट्यकृतियों में छात्र जीवन का वर्णन है। 'दीपकः कुलदीपकः' नाटक ४ दृश्यों में ९८ वर्षीय मेधावी किन्तु निर्धन छात्र दीपक के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि विपरीत परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त की जा सकती है। दीपक के पिता द्वारा उसके शिक्षाप्राप्ति में अनेक बाधाएँ उत्पन्न करने पर भी माता और बहन की प्रेरणा से वह पढ़ता है। विद्यालय में भी प्रमोद जैसे ईर्ष्यालु बालकों द्वारा उसकी निर्धनता का करने तथा होली में उस पर रंग डालने पर भी वह निराश नहीं होता और उत्साहपूर्वक परीक्षा देकर विद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करता है। स्वयं दीपक के गुरु उसे अपने कुल और विद्यालय का दीपक कहते है- ..... ''**कुलदीपकः दीपकः विद्यालयस्यापि दीपकः अस्ति। अस्मिन् वर्षे अनेन परिक्षायां सर्वाधिका अंकः प्राप्तः।**''

उसके विपरीत 'क्षम्यताम् अध्यापक!' नाटक के ६ दृश्यों में अनिल नामक धनी और उद्दण्ड छात्र के सुधरने को रूपायित किया गया है। अनिल अन्य छात्रों के

साथ मिलकर विद्यालय में उद्दण्डता करता है, निर्धन और पङ्गु छात्र दीवांशु का भी अनेक प्रकार से उपहास करता है तथा विद्यालय के अध्यापकों से भी धृष्टता करता है। नवागंतुक गणित- अध्यापक श्री अशोक को भी विद्यालय से बाहर करने हेतु वे सभी अनेक उपाय करते हैं। किन्तु जब अनिल के मार्ग- दुर्घटना में घायल होने पर रक्त की आवश्यकता पड़ती हैं और श्री अशोक तथा दीवांशु से क्षमा- याचना करते हैं।

इस क्रम में तृतीय नाटक 'जीवन्भद्राणि पश्यन्ति' में मानव जीवन और भौतिक- मानसिक -भावात्मक समृद्धता के लिए संस्कृत भाषा की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है तथा अपनी रुचि और क्षमता के अनुकूल विषयों के अध्ययन का सुझाव दिाय गया है। प्रस्तुत नाटक में चिकित्सक गंगाप्रसाद और उनकी पत्नी पार्वती अपने पुत्र रामप्रसाद को उसकी रुचि न होने पर भी मेडिकलप्रवेशपरीक्षा हेतु अध्ययन के लिए विवश कर देते हैं, जिससे वह परीक्षा में असफल हो जाता है और उद्विग्न होकर आत्महत्या करने के लिए घर से निकल पड़ता है। मार्ग में उसके कुलगुरु श्री रामलाल महाराज मिलते हैं और उसकी निराशा को समझकर उसे मानव जीवन का महतत्व समझाते हैं। इसके साथ ही उन्होंने रामदास को श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत, उपनिषदादि के सूक्ति वाक्यों द्धारा समझाकर संस्कृत और अपने रुचि अनुकूल विषय के अध्यन के लिए प्रेरित किया - ''..... **स्वरुच्यानुकूलविषयाणाम् अध्ययनं परिश्रमपूर्वकं कुरु। यदि कार्यम् उत्तमविधिना सम्पाद्यंते, तस्य फलममपि उत्तममेव भवति। गच्छ त्वम् । अवसादं मा गमः । शिवास्ते सन्तु पन्थानः।** '' गुरु की प्रेरणा से ही रामदास ने प्रशासनिकसेवाचयनपरीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया और मानवजीवन की बहूमूल्यता का अनुभव किया-

''उच्चपदेन न हर्षन्ति, विनिपाते न शोचन्ति। विपदि आत्मघातपरास्त्वज्ञाः, समस्यासमाधान-परास्तुविज्ञाः।।''

प्रत्येक उतार-चढ़ाव के साथ हम पात्रों की संवेदनाओं और भावनाओं का अनुभव करते हैं, क्योंकि अनुभव शब्द का अर्थ ही वस्तु और मन का सम्पर्क है। प्रस्तुत नाटकों के चरण- चरण पर सौन्दर्यानुभूत होती है क्योंकि स्थितियों और वस्तुओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति ही सौन्दर्य है तथा प्रस्तुत नाटकों में वर्णित समस्यायें और शिक्षायें सहृदयों का ध्यान आकर्षिक करती हैं।

डॉ. अंजुबाला रचित लघुनाट्य 'पर्यावरण चैतन्यम्' के माध्यम से वर्तमान में वृक्षों की अनियन्त्रित कटाई से भविष्य में होने वाली समस्याओं को प्रकाशित किया गया है। प्रस्तुत नाटक के आरम्भ में पर्यावरण दिवस का उल्लासमय वातावरण दिखाया गया है, किन्तु इस दिवस का वास्तविक अर्थ कोई नहीं समझता और अपनी दुर्गति पर स्वयं प्रकृतिमाता वेपाल करती हैं- ''**अहो उष्णता! असह्यः खल्वेषः चण्डातपः। कीदृशी दुखस्था ममैषा? सर्वत्र नीरस्ता दृष्टिपथमायाति (कुत्र गतः) मम हरीतिमाः? एते खलु नीरसाः वृक्षा शुष्काः नद्यश्च। न श्रूयते कुत्रचित् पक्षिणां कलखः । न शक्यं क्षणमपि अत्र स्थातुं पारयामि । त्रायस्व त्रायस्व माम्।**'

अनवरत् होने वाले वनोन्मूलन के कारण निकट भविष्य के दृश्य में दिखाया गया कि बालक वृक्ष देखने के लिए संग्रहालय जा रहे हैं तथा श्वसन- क्रिया के लिए गैसाधानयन्त्र प्रयोग कर रहे हैं। अन्त में यह विचार सामने आता है कि अच्छे भविष्य के लिए वर्तमान में सभी जागरुक होने और पर्यावरण दिवस पर उल्लास के साथ-साथ प्रकृति -संरक्षण का संकल्प लेने की आवश्यकता है।

'देशभक्तो बाजिः' में श्रीमती सविता दाशा ने उत्कल

राज्य के नीलकण्ठपुर ग्राम के १२ वर्षीय बाजि की वीरता और बलिदान को प्रकाशित किया है। २ दृश्यों के इस लघुनाट्य में पराधीन भारत की पृष्ठभूमि है। प्रथम दृश्य में १२ वर्ष की बाल्यावस्था में भी बाजि मातृभूमि की पराधीनता के विषय में चिन्तित तथा मातृभूमि की सेवा हेतु तत्पर रहता है- ''**कदा आगमिष्यति तच्छुभादिनम् । अहमपि देशमातृकायाः सेवां करिष्यामि।**'' द्वितीय दृश्य में ब्रिटिश सैनिकों के सामने भी उसकी वीरता और उत्साह कम नहीं होता- ''**देशोऽस्माकम्। परिश्रमं कुर्मो वयम् आदेष्टुं मां को भवान् ? भवतः आज्ञामहं न पालयामि।**'' ग्रामवासियों के आने तक निर्भयतापूर्वक घाट की रक्षा करते हुये वह सैनिक को नदी नहीं पार करने देता। किन्तु अन्त में गोलियों से आहत होकर वन्दे मातरम् कहता हुआ वीरगति को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन सातों नाटकों में जीवन की गम्भीर स्थितियों का प्रात्यक्षिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, जो हमें अपने आस-पास घटित होते दिखता है। प्रज्ञा के विवाह हेतु माता-पिता की शीघ्रता, प्रज्ञा का विरोध और उद्विग्नता कश्मीर में महिलाओं की दुर्दशा और उनका साहस, छात्रों के जीवन में समस्यायें आने के बाद भी उनकी सफलता, निराशा में आत्मघात का विचार, प्रकृतिमाता का रुदन तथा बालक बाजि की देशभक्ति -सभी हमारे मन को प्रभावित करते हैं।

सन्दर्भ -ग्रन्थ -सूची-

१- संस्कृतलघुनाट्यचयः- प्र. स. श्रीकृष्ण सेमवाल, दिल्ली संस्कृत अकादमी- २००६ २०९०

२- सौन्दर्यशास्त्र- विजेन्द्र, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली -२००६

३- सौन्दर्य मीमांसा- रा. भा. पाटणकर साहित्य अकादमी, नई दिल्ली -१९९०

४- सौन्यर्य दर्शन विमर्श - अनु, जगन्नाथ पाठक, राका प्रकाशन, इलाहाबाद -२००३

५- Sankrit Drama lts Aesthetice and production- Dr. v. Raghvan, malras -1993

शोधच्छात्रा

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

(प्राक्तन - राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान)

गङ्गानाथ झा परिसर, प्रयागराज

❑❑

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप

डॉ० शालिनी सिंह

भारतीय दर्शन में मोक्ष का अर्थ जीवन का दिव्य रूपान्तर और सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। चार्वाक को छोड़कर सभी आस्तिक और नास्तिक भारतीय दार्शनिक मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम् पुरुषार्थ होता है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष आत्मा का ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आचार्य शंकर ने मोक्ष की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है–

''इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्तं, निरवययं, स्वयं ज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते। तदेतद् शरीरत्वं मोक्षाख्यम् ।'' – ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्यम् – १.१.४

अर्थात् जो पारमार्थिक सत्य है, कूटस्थ है, नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, समस्त क्रियाओं के रहित, नित्यतृप्त, निरवयव है, जिसका स्वयं ज्योति का स्वभाव है, जहाँ पर धर्म-अधर्म, भूत, भविष्य तथा वर्तमान आदि को कोई स्थान नहीं वह अशरीरी अवस्था मोक्ष है। मोक्ष के लिए ब्रह्मात्मैक्य का बोध अति आवश्यक है।

''आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि।''

ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। अनेक अध्यात्मशास्त्रों का अध्ययन कर लेने, उपदेश परक व्याख्यान कर लेने, प्रवचन कर लेने पर भी, देव शक्तियों की आराधना, पूजा एवं भजन कर लेने पर भी, अनेक पुण्य व शुभ कर्म करने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। जब तक कि आत्मज्ञान न हो तब तक सौ कल्प बीत जाने पर भी मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है। **कठोपनिषद्** में भी कहा गया है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूस्वाम्।।

– कठोपनिषद् -१.२.२३

मोक्ष अविद्या के नाश से, ब्रह्म और आत्मा के एकत्व एवं अभेद की अनुभूति से ही प्राप्त होता है। परमतत्व के ज्ञान के लिए मात्र शास्त्राध्ययन ही आवश्यक नहीं। न ही रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् एवं वेदादि का पाठ ही पर्याप्त है, बल्कि जब तक आत्मज्ञान की चेष्टा नहीं की जाती, तब तक शास्त्रज्ञान निष्फल ही रहते है। आचार्य शंकर ने कहा है–

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।।

– विवेक चूडामणि-६१

जिस प्रकार समुद्र से परे हो जाने पर नौका निष्फल हो जाती है, उसी प्रकार शास्त्रादि तो परमतत्व के ज्ञान के लिए माध्यम हैं, प्रथम सोपान है। वे तो प्रारम्भ में सहायक मात्र होते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष व्यक्ति की साध्य प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी हो सकता है, किन्तु अधिकारी होने के लिए वेदान्त सम्मत साधना मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। वेदान्तसार में अधिकारी का लक्षण इस प्रकार बताया गया है–

''अधिकारी तु विधिवदधीत-वेदाङ्गत्वेना-पाततोऽधिगताखिल वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्य-नैमित्तिक-

प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गत-निखिल-कल्मषतया नितान्तनिर्मल-स्वान्तः साधन-चतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता।'' - वेदान्तसार –पृ० १०

अधिकारी वही हो सकता है, जिसने इस जन्म या पूर्व जन्म में पहले विधिपूर्वक वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान उपलब्ध करके काम्य कर्म तथा शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग किया हो। जिसका अन्तःकरण नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अत्यधिक स्वच्छ हो गया हो, ऐसा चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी होता है। अधिकारी बनने से पहले व्यक्ति में ''साधन चतुष्टय'' का होना आवश्यक माना है। मोक्ष प्राप्त करने सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी की योग्यता साधन चतुष्टय के चारों साधनों विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि एवं मुमुक्षत्व का एक साथ उल्लेख किया है–

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्म जिज्ञासा योग्यता मता।।

विवेक चूडामणि-१५

जो सद्सद्विवेकी, वैराग्यवान, शम-दमादि षट्सम्पत्तियुक्त और मुमुक्ष हो, उसी में ब्रह्म जिज्ञासा की योग्यता मानी गयी है। इन साधन चतुष्टयों के सिद्ध होने पर ही आत्मानुभूति अथवा मोक्ष सम्भव है। साधन चतुष्टय का प्रथम साधन विवेक बताया गया है। विवेक से तात्पर्य है– ''नित्य और अनित्य में भेद करने की क्षमता।'' ब्रह्म सत्य है और यह जगत् मिथ्या स्वीकारा है। जो परिवर्तनशील अथवा गतिशील होकर समाप्त होने वाला है, वह नित्य या सत्य नहीं है जो चलायमान न होकर नष्ट होने वाला नहीं है, वही सत्य है। वह ब्रह्म है, ऐसा निर्णय कर सकने की क्षमता को आचार्य शंकर ने विवेक कहा है। यह विवेक ही आत्मतत्व बोध अथवा ब्रह्म विद्यात्मक ज्ञान का पूर्ण और आधारभूत साधन है तथा साधन चतुष्टय के अन्य तीन साधनों का निमित्तहै। विवेक विकसित हो जाने पर भी वैराग्य तथा अन्य साधन सिद्ध नहीं हो पाते। इसका कारण यह है कि निष्काम कर्म आदि के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले विवेक से ही ब्रह्मविद्या का साधन वैराग्य उत्पन्न होता है। इसके बाद वैराग्य अपने उत्तर साधन शमदमादिषट्कसम्पत्ति की प्राप्ति में सहयोगी बनता है। सत्य और असत्य का बोध हो जाने पर सत्य को ग्रहण कर उसी सत्य रूप वस्तु में स्थित रहना एवं मिथ्या का परित्याग करना ही साधना है, जिससे ही मोक्ष सम्भव है।

साधन चतुष्टय का दूसरा साधन वैराग्य है। कर्मबन्धन जन्य ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार की सुख भोगेषणाओं के प्रति अन्तःकरण से निरासक्ति, तुच्छता एवं निःसारता को तत्व चिन्तन प्रक्रिया में वैराग्य कहा गया है। मनुष्य देव आदि से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थ है जिनके सम्बन्ध में सुख प्राप्त करने की एषणा है, उन सबके प्रति निरासक्ति हो वैराग्य स्वीकारा गया है। **सदानन्द** कृत **वेदान्तसार** में भी वैराग्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

''ऐहिकानां स्त्रक-चन्दन-वनितादि-विषय भोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्ववदामुष्णिकाणामप्य-मृतादि विषय भोगनामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रार्थ-फलभोग विरागः।''

वेदान्तसार-वैराग्यवर्णन

संसार और परलोक की समस्त सुख भोग की वस्तुएँ या विचार अनित्य हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है–

''श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तकैतत्''

कठोपनिषद् – १.२.२६

अर्थात् हे यमराज! ये भोग कल रहेगें या नहीं। कर्म फलरूप अनित्य है, क्योंकि अनित्य साधनों द्वारा वह नित्य ब्रह्म तत्व नहीं किया जा सकता। विषयों के प्रति त्यागभाव से मनुष्य के चित्त में विरक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार क्रमपूर्वक एक के बाद दूसरे श्रेष्ठ की उपलब्धि की परम्परा मे वैराग्य ब्रह्म विद्या या मोक्ष के प्रसंग में निःसन्देह महत्वपूर्ण है।

साधन चतुष्टय का तृतीय साधन शमादिषट्क सम्पत्ति है। इन सम्पत्तियों में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छः समाहित है। चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना शम कहा जाता है। शम अपने लक्षण में चित्त की वह वृत्ति है, जो चित्त को जागतिक विषयों से दूर रखती है। मनुष्य का मन स्वभावतः अपनी इन्द्रियजन्य लालसा के कारण विषयों की तरफ आकर्षित होता है। भूख अथवा प्यास लगने पर ऐसे व्यक्ति का मन अन्य सभी बातों से परे हटकर भूख-प्यास आदि को शान्त करने के साधन अन्न-जलादि की ओर दौड़ता है। मनुष्य के मन की प्रवृत्ति को रोकना विषयों के प्रति राग समाप्त करने के लिए नितान्त अनिवार्य है। शम के समान ब्रह्म विद्या प्राप्ति के साधन साधन चतुष्टय' के तृतीय साधन की दूसरी सम्पत्ति दम कही गयी है। शरीर की कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को उनसे सम्बन्धित विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थित कर देने के गुण को 'दम' कहते है। मनष्य के मन को इन्द्रियों का भाव मात्र रहे, इन्द्रियों विषयों की तरफ न भागें, सांसारिक विषय भोग इन्द्रियों को अपनी तरफ आकर्षित न कर सकें और बाह्य इन्द्रियों का पूर्णतया निरोध हो, उसे 'दम' कहते है। जिस प्रकार गतिशील अश्व को रोकने के लिए लगाम का खींचना जिस तरफ अनिवार्य होता है, उसी प्रकार मन रूपी अश्व को विषय राग की तरफ बढ़ने से रोकने के लिए इन्द्रिय रूपी लगाम का निग्रह नितान्त अनिवार्य है। शमादिदषट्क सम्पत्तियों में तीसरा स्थान उपरति का है। वृत्ति का बाह्य विषयों का आलम्बन ग्रहण नहीं करना उत्तम उपरति है। इन्द्रियॉ सहज स्वभाव एवं अभ्यास के कारण बाह्य विषयों के प्रति आकर्षित होती रहती हैं और उनसे सम्पर्क करती हैं। इन्द्रियों की इस प्रवृत्ति को नियंत्रित कर लेना अथवा विफल कर देना 'उपरति' कहा गया है।

षट्क सम्पत्ति परक साधन चतुष्ट्य की चौथी सम्पत्ति तितिक्षा कही गयी है। तितिक्षा का अर्थ अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव से रहना किया जाता है। आचार्य शंकर का कथन है कि मोक्ष की सिद्धि साधना के काल में आने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि प्रतिकूल बुद्धि के विषय, दुःखों एवं कष्टों को बिना प्रतिकार के सहन करना तथा उनके प्रसङ्ग में चिन्ता और शोक का परित्याग करना ही तितिक्षा है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुख दुःखादि संस्थितियों को सहन कर उनमें समभाव की स्थिति को तितिक्षा स्वीकारा गया है। वेदान्त विद्या के अद्वैत प्रतिपादक वचनों एवं उपदेशों में पूर्ण आस्था और विश्वास तथा उन्हें यथार्थ का बोध कराने वाले मानना ही श्रद्धा है। "गुरुपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।" आत्मतत्व सम्बन्धी ज्ञान के प्रति जिज्ञासा रखने वालों में अनिवार्य रूप से गुरु के मुख से निःसृत होने वाले वेदान्त वाक्यों एवं उसके उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा होना आवश्यक है। छठी सम्पत्ति समाधान है, जिसमें चित्त की ब्रह्म में स्थिर-स्थिर को वेदान्त के प्रसंग में समाधान इस नाम से अभिहित किया गया है। तीनों कालों में राग द्वेषादि रहित होकर अपनी बुद्धि एवं अन्तःकरण की निश्चय ह्वपिका वृत्ति को सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध ब्रह्म में सतत् स्थिर रखना समाधान है।

साधन चतुष्ट्य का अन्तिम और महत्वपूर्ण साधन 'मुमुक्षुत्व' है। 'मुमुक्षुत्व' मोक्षेच्छा वेदान्त आर्थात् मोक्ष की इच्छा से युक्त होना ही मुमुक्षुत्व है। संसारगत बन्धन, जिसे अनर्थ कहा गया है, उस बन्धन से निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष का स्वरूप स्वीकारा गया है एवं इसकी

इच्छा को मुमुक्षुत्व कहा गया है। किन्तु यह मुमुक्षुत्व बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। आचार्य शंकर मुमुक्षुत्व के दुर्लभता को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

विवेक चूडामणि-३

मनुष्यता, मुक्ति की इच्छा या मुमुक्षुत्व तथा महापुरुषों की संसर्ग ये तीनों भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकते हैं। आचार्य ने बताया कि मुमुक्षुत्व मन्द अथवा मध्यम होने पर भी फलदायी है। इसका कारण यह है कि मोक्ष प्राप्त की इच्छा, चाहे तीव्र न हो, फिर भी वह जिज्ञासा रखने वाले को आत्म विषयक चिन्तन मनन परक बनाती है, जो सभी स्तरों पर श्रेष्ठ ही है। जिस पुरुष में वैराग्य एवं मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसी में शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं। सार यह है कि साधन चतुष्टय के समस्त साधनों मे मुमुक्षुत्व के अभाव में अन्य साधनों को प्राप्त कर लेने पर भी साधक अपने लक्ष्य ब्रह्म विद्या की प्राप्ति से दूर ही रहता है। इसके विपरीत मुमुक्षुत्व के होने से अन्य साधनों की प्राप्ति सहज हो जाती है। इसके अज्ञान एवं अज्ञान जन्य जागतिकभान को ज्ञान के माध्यम से नष्ट करके ब्रह्म स्वरूप में स्थित होने का बोध होता है। जिसके परिणाम स्वरूप साधन चतुष्टय के साधन एक साथ सिद्ध होते हैं। इस प्रकार साधक ब्रह्म विद्या का अधिकारी बनता है, क्योंकि मुमुक्षुत्व के साथ अन्य साधनों की सिद्धि से साधक के हृदय की समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं। वह जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का बोध प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि ज्ञान ही एक मात्र मोक्ष का साधन है। इतना ही नहीं सर्वोच्च ज्ञान स्वयं में मोक्ष ही है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का उच्छेदन ही मोक्ष है, क्योंकि जीव इस अज्ञान से पूर्व ब्रह्म ही था, किन्तु माया के कारण वह अपने इस यथार्थ स्वरूप को भूल गया था और अपने को शरीर, मन, ज्ञानेन्द्रियों आदि को समझने लगता है। ऐसे अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर जो स्वरूपोद्बोधन होता है, वही मोक्ष है।

प्रवक्ता-संस्कृत विभाग
डॉ० राम मनोहर लोहिया
पी०जी० कालेज
खजूरगाँव, रायबरेली

❑❑

महाभारते श्रीकृष्णबालचरितम्

अमिता चौरसिया

कैश्चिदनाप्तैराक्षिप्यते यत् महाभारते श्रीकृष्णस्य बालचरितं नोक्तम्, परन्तु शतपर्वनिबद्ध-हरिवंशावधिक-महाभारतस्वाध्यायरसिकानां पुरतोऽयमाक्षेपः क्षणेनैव प्रविलीयते। हरिवंशान्तं महाभारतमस्वीकृत्याननु शील्याननुसन्धायाननुगत्य च महाभारतं नैव समञ्जसम्। अतः सहरिवंशान्तं महाभारतमिति ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनाचार्यैः स्वीकृत्यैव महाभारते मोक्ष- लक्षणः पुरुषार्थः, शान्तोऽङ्गीरसश्चेति सिद्धान्तितः। हरिवंशस्य महाभारत वयवानभ्युपगमे पर्वसंग्रहाध्यायस्य-

एतत् पूर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।[१]

इति वचनमनुपपन्नं स्यादतः 'महाभारतं सहरिवंशान्तम्' सम्पूर्णम्।

श्रीकृष्णद्वैपायनरीत्या हरिवंशे विष्णुपर्व-शिशुचर्यापर्व-कंसवधपर्व भविष्यत्पर्वाणि, चत्वारित सन्ति। हरिवंशपर्वणः श्लोकसंख्या-

दशश्लोकसहस्राणि विंशच्छ्लोकशतानि च।
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा।।
एतत्सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः।।[२]

नैमिषे कुलपतेः शौनकस्य सत्रे महाभारतस्य यावानंशः श्रावितः सोऽष्टादशपर्वान्त एव। सम्पूर्णं महाभारतं तत्र नैव श्रावितमभूत्। अतएव पर्वसंग्रहाध्याये प्रोक्तम् -

यथावत् सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु।।
समासो भारतस्यायम् .....।[३]

इति। अत्र 'ततः' (तस्मात्) 'तु' पदाभ्यां तस्याखिलस्य महाभारतस्य संकेतोऽस्ति यत् कुरुक्षेत्रे विद्यमानेन द्वैपायनेन मुनिना निर्मितं यस्य प्रमाणं अनुक्रमणिकाध्यायस्य १०१ तः १०७ पद्यपर्यन्तं परिनिष्ठितं निद्यते।

समस्तेऽपि सहरिवंशे महाभारते श्रीकृष्णस्य बालचरितं आद्योपान्तं प्राप्यते।

(१) उद्योगपर्वणि श्रीकृष्णचरितम्

नैमिषारण्ये महाभारतस्य यावानंशः प्रोक्तस्तस्मिन्नपि नामकीर्त्तनमात्रं श्रीकृष्णस्य बालचरितमस्ति।महाभारतेऽनेकत्र बालचरितं अस्ति। तस्य दिङ्मात्रमुपस्थाप्यते। उद्योगपर्वणि १२१ तमेऽध्याये दुर्योधनं प्रति विदुरो वक्ति -

अनेन निहता बाल्ये पूतनाशकुनिस्तथा।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ।।
अरिष्टोधेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन्।।
जरासन्धश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान्।।[४]

पूतनाहनन- गोवर्धनधारणारिष्टवध-धेनुकवध-चाणूरवध-केशिवध-कंसवधादीनां बालचरितानां-स्पष्टमुल्लेखः।

(२) द्रोणपर्वणि बालचरितम्

द्रोणपर्वणि एकादशाध्याये धृतराष्ट्रः सञ्जयमाह-

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।।

सम्वर्धता गोपकुले बालेनैव महात्मना।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु संजय।।
उच्चैस्त्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे।
जघान हय राजानं यमुनावनवासिनम्।।
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम्।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह।।
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम्।
मुरञ्चामरसंकाशमवधीत् पुष्करेक्षण :।।[५]

इमानि द्रोणपर्वणः पद्यानि श्रीकृष्णस्य बालचरितमेव व्यक्तीकुर्वन्ति।

(३) शिशुपालकृतं बालकृष्णचरितवर्णनम्

चेदिराजः शिशुपालः भीष्मं प्रत्याह-

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः
त्वया कीर्त्तयताऽस्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः।।
यद्यनेन हता वाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ?
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धि विशारदौ।।
चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म! तत्र किं कृतमद्भुतम्।।
बल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तथा गोवर्धनो भीष्म! न तच्चित्रं मतं मम।।
भुक्तमेकेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परं विस्मयमागताः।।
यस्य चानेन धर्मज्ञ! भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम्।।[६]

अत्र 'त्वया कीर्त्तयता' इत्यनेन स्पष्टं यत् कुरुवृद्धो भीष्मः श्रीकृणस्य बालचरितं पूर्णतः जानाति स्म। अतएवास्यैव पर्वणः ३७ तमेऽध्याये भीष्मः स्वयं कथयति-

ज्ञानवृद्धाः मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान्।।
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतां सताम्।
कर्माण्यपि हि यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः।।[७]

एतेन 'महाभारते श्रीकृष्णस्य बालचरितं नोक्तमिति' नास्तिकानामनधीतीनां कुतोद्यमपास्तम्।

अनुशासनपर्वणि बालचरितम्

अनुशासनपर्वणः१५७ तमेऽध्याये भीष्मः श्रीकृष्णविषये युधिष्ठिरं सम्बोधयन्नाह-

अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णम्।
वीर्यं हि यच्चास्थ बलं पुराणम्।।
अमेयात्मा केशवः कौरवेन्द्र।
सोऽयं धर्मं रक्षति संशयेषु।।[८]

अर्थात् मायामानवस्य श्रीकृण्णस्य वास्तविकं परमरहस्यमाध्यात्मिकं स्वरूपमहं वेद्मि' इति कथनात् श्रीकृष्णः भगवानेवेति देवब्रतोऽवैति।

अस्मिन्नेवाध्याये श्रीकृष्णमधिकृत्य कुरुकुलवृद्धः कथयति

ज्योतीषि शुक्लानि हि सर्वलोके।
त्रयो लोकाः लोकपालास्त्रयश्च।।
त्रयोऽनयो व्याहतयश्च तिस्त्रः।
सर्वे देवा देवकीपुत्र एव।।
चन्द्रदित्यौ ग्रहनक्षत्रतारा:।
सर्वाणि पर्वाण्यथ पौर्णमासम्।।
नक्षत्रयोगा ऋतवश्च पार्थ !।
विष्वक्सेनात् सर्वमिदं प्रसूतम्।।
वायुर्भूत्वा दहते विश्वरूपः।।

आपो भूत्वा मज्जयते स सर्वम्।
ब्रह्मा भूत्वा सृजते सर्वसंघान्।।
यद् वर्तते यच्च भविष्यतीह
सर्वं ह्येतत् केशवस्त्वं प्रतीहि।
मृत्युश्चैव प्राणिनामन्तकाले।
साक्षात् कृष्णः शाश्वतो धर्मवाहः।
एतादृशः केशवोऽतश्च भूयो।
नारायणः परमश्चाव्ययश्च।
मध्याद्यन्तस्य जगतस्तत्सुखश्च।
सम्बुभूषतां प्रभवश्चाप्ययस्य।।[९]

एवं महाभारते श्रीकृष्णस्य बालचरितानि व्यासेन नोक्तानीति गीरेवाबोधविजृम्भिता।

सन्दर्भाः

१. *श्रीकृ .च. १/३२*
२. *तत्रैव १/३४*
३. *हरि. पु. २/८४*
४. *तदेव २/७८*
५. *तत्रैव २/८४*
६. *महा. उ. प्र. १२१/४५-४७*
७. *महा. भा., द्रो. प. ११/१-५*
८. *महा. स. प. ४२/४-९*
९. *तदेव ३८/१२-१३*

शोधच्छात्रा
केन्द्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
गङ्गानाथझापरिसरः
प्रयागराजः

❑❑

संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

पुस्तक नाम	मूल्य रु.
ब्रह्मवर्चस्व सिद्धि	३०.००
कालसर्प शान्ति पद्धति	१००.००
स्तोत्रमञ्जूषा	३०.००
स्तोत्रमञ्जूषा (उभयभाग)	८०.००
श्रीहनुमान चालीसा	२१.००
श्रावणी उपाकर्म पद्धति	१००.००
कर्मकाण्ड प्रबोध	२५०.००
कवचकुञ्ज (नया संस्करण)	२००.००
साङ्गोपाङ्गमहाविद्यानुष्ठान पद्धति (नया संस्करण)	५०.००
श्रीचण्डीयज्ञप्रकाश	८००.००
महामृत्युञ्जय अनुष्ठान पद्धति	३००.००
कुशकण्डिका रहस्य	५०.००
जीवन दर्पण सप्तवर्गीय (जन्मकुण्डली पत्रिका)	३०.००
जीवन दर्पण साधारण (जन्मकुण्डली पत्रिका)	२५.००
पर्वदर्शन-वार्षिक (व्रत,त्योहार एवं जयंती प्रदर्शक)	३०.००
पर्वपत्र	१५.००
ब्राह्म विवाह लग्न पत्रिका	१५.००
शक्तिस्तवार्चनम्	१०.००
रहस्य (विजयशंकर श्रीवास्तव)	३०.००
सन्ध्या विज्ञान	५०.००
भारतीय त्योहार	१०.००

इन्हें प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें -

श्री वेदाङ्ग संस्थान

63/59, मोरी, दारागंज, प्रयागराज - 211006

मो. नं.: 9415366822, 8840762381

website:- www.shrivedangsansthan.com **email:-shrivedangsansthan@gmail.com**